आधुनिक हिन्दी काव्य

[नवीन प्रगति की मौलिक रचनाओं का संग्रह]

(प्रयाग विश्वविद्यालय की बी० ए० परीक्षा की पाठ्य पुस्तक)

सम्पादक—

डा० धीरेन्द्र वर्मा, एम० ए०, डी० लिट्०

श्री रामकुमार वर्मा, एम० ए०

प्रकाशक—

सरस्वती प्रकाशन मन्दिर

(Saraswati Publishing House)

इलाहाबाद

दूसरी बार]   १९९७   [मूल्य २॥)

प्रकाशक—
सरस्वती पब्लिशिंग हाउस,
जार्जटाउन, इलाहाबाद

मुद्रक—
सुशील चन्द्र वर्मा बी० एस-सी०
सरस्वती प्रेस
जार्ज टाउन, इलाहाबाद

नं. प. ८६

निवेदन

खड़ी बोली हिन्दी में कविता की रचना भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को किसी प्रकार भी मान्य नहीं थी। उन्होंने अपने नाटकों में जहाँ गद्य की भाषा खड़ी बोली मानी है, वहाँ पद्य में उन्होंने व्रज भाषा का प्रयोग किया है। पद्य में खड़ी बोली का प्रयोग या तो उन्होंने अन्धेर नगरी प्रहसन में हास्य की सृष्टि करने के लिए किया है, अथवा चन्द्रावली नाटिका के चतुर्थ अंक में, जहाँ वे योगिनी से प्रेम की मर्यादा के विषय में कुछ कहलाना चाहते हैं। उन्होंने कुछ ग़ज़लों की रचना भी खड़ी बोली में की है। चन्द्रावली नाटिका में भारतेन्दु ने खड़ी बोली में कविता की रचना प्रयोगात्मक रूप में की, यद्यपि वे उसमें सफल नहीं हो सके। भारतेन्दु ने अपने 'हिन्दी भाषा' शीर्षक निबन्ध में इस विषय का निदेश भी किया है। उन्होंने खड़ी बोली का एक पद्य लिख कर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि कविता की भाषा खड़ी बोली नहीं है। वह अवतरण इस प्रकार है :—

"भजन करो श्री कृष्ण का, मिल कर के सब लोग,
सिद्ध होयगा काम, औ छूटैगा सब सोग।

अब देखिये यह कैसी भौंडी कविता है! मैंने इसका कारण सोचा कि खड़ी बोली में कविता मीठी क्यों नहीं बनती तो मुझको सब से बड़ा

कारण जान पड़ा कि इसमें क्रिया इत्यादि में प्रायः दीर्घ मात्रा होता है इससे कविता अच्छी नहीं बनती। आप लोगों को ऊपर के उदाहरणों से स्पष्ट हो जायगा कि कविता की भाषा निस्सन्देह ब्रज भाषा ही है और दूसरे भाषाओं की कविता इतना चित्त को नहीं पकड़ती।"*

इस प्रकार भारतेन्दु ने कविता की भाषा ब्रज भाषा ही मानी है। भारतेन्दु के समकालीन तथा परिवर्ती कवियों ने भी भारतेन्दु के आदर्श को स्वीकार करते हुए ब्रज भाषा ही में पद्य-रचना की है। पंडित महावीर-प्रसाद द्विवेदी को यह श्रेय था कि उन्होंने 'सरस्वती' के द्वारा इस बात की यथार्थता सिद्ध की कि गद्य और पद्य दोनों के लिए खड़ी बोली सब प्रकार से उपयुक्त है। उन्होंने 'कवि और कविता' शीर्षक निबन्ध में यह लिखा भी है कि 'जिस बात के कहने में लोग स्वाभाविक रीति पर जैसे और जिस क्रम से शब्द-प्रयोग करते हैं वैसे ही कवि को भी करना चाहिए।'†

पंडित महावीर प्रसाद द्विवेदी के नवीन दृष्टिकोण से प्रभावित होकर खड़ी बोली कविता की रूप-रेखा का निर्माण होने लगा। राय देवी-प्रसाद पूर्ण और श्रीधर पाठक ने खड़ी बोली कविता का सूत्रपात नवीन ढंग से करना प्रारम्भ किया। राय देवीप्रसाद पूर्ण ने अपने नाटक 'चन्द्रकला भानुकुमार' में व्रजभाषा पद्य का ही प्रयोग किया है, यद्यपि वे खड़ी बोली पद्य की सार्थकता का समर्थन करते हैं। वे खड़ी बोली पद्य

---

* हिन्दी भाषा—(भारतेन्दु) पृष्ठ ११, खड्ग विलास प्रेस, बाँकीपुर १८८९।

† हिन्दी निबन्ध माला (नागरी प्रचारिणी सभा, काशी १९८७), भाग १

के भविष्य में सफल होने की कामना करते हुए कहते हैं:— यद्यपि वे भाषाएँ (प्राकृत—उनमें सब से अधिक व्रजभाषा) खड़ी बोली से थोड़ा-बहुत अन्तर रखती हैं, तथापि उन भारतवासियों के लिए जो हिन्दी बोलने वाले प्रान्तों में रहते हैं, वे ही भाषाएँ मातृ-भाषावत् सरल और सुन्दर हैं और बड़े-बड़े कवियों के द्वारा व्यवहृत होते-होते उनमें पद्य-प्रयुक्त होने की विशेष योग्यता आ गयी है। यह योग्यता खड़ी बोली में तब आयेगा जब वह भी पद्य-रचना के लिए समर्थ कवियों के द्वारा व्यवहार के खराद पर चढ़ायी जायगी।[१]

इसी प्रकार पूर्ण ने समस्या पूर्तियों एवम् अपने नाटक में पद्य की भाषा व्रजभाषा तो रक्खी है, लेकिन स्वदेशी कुंडल के ५२ कुंडलिये खड़ी बोली ही में लिखे गये हैं।[२] हिन्दू विश्व-विद्यालय डेपुटेशन का स्वागत,[३] वसन्त वियोग,[४] नवीन सम्वत्सर का स्वागत,[५] लखनऊ के पंचम हिन्दी साहित्य सम्मेलन में दी गयी वक्तृता के पद्य,[६] गज़ल[७] आदि सभी खड़ी बोली में हैं। कहीं कहीं इस खड़ी बोली में व्रजभाषापन अवश्य आ गया है।

---

१ चन्द्रकला भानुकुमार नाटक (रसिक मंडल, कानपूर १९०४) भूमिका, पृष्ठ ६
२ पूर्ण संग्रह, (गंगा पुस्तक माला, लखनऊ १९८२) पृष्ठ २०५—२१९
३ पूर्ण संग्रह, २२०,
४ पूर्ण संग्रह, १२६,
५ पूर्ण संग्रह, २२७,
६ पूर्ण संग्रह, २९२,
७ पूर्ण संग्रह, २३८,

पंडित श्रीधर पाठक ने गोल्डस्मिथ के ग्रन्थों के अनुवाद में अपनी काव्य-प्रतिभा का प्रदर्शन किया। उन्होंने भी खड़ी बोली का प्रयोग पद्य-रचना में किया। देवीप्रसाद पूर्ण की भाँति पाठकजी की रचना में भी पूर्ण परिमार्जित शब्दावली नहीं है। पंडित जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी ने पंचम हिन्दी-साहित्य सम्मेलन में सभापति पंडित श्रीधर पाठक के निर्वाचन सम्बन्धी प्रस्ताव का समर्थन करते हुए उनकी कविता की प्रशंसा इस प्रकार की थी :—"जिन्होंने आज तक पाठकजी की कविताएँ नहीं पढ़ी हैं, उनसे अनुरोध है कि वह पढ़ें और देखें कि पाठकजी कैसे मधुर कवि हैं! उनकी कविता का कुछ नमूना मैं यहाँ सुनाता हूँ। एकान्तवासी योगी की पहली पंक्ति है :—

सुनिये झाड़खंड बनवासी, दयाशील हे वैरागी !
करके कृपा बता दो मुझको कहाँ जलै है वह आगी ?

जो समझते हैं कि यह विशुद्ध खड़ी बोली की कविता है वह भूलते है। 'कहाँ जलै है वह आगी' खड़ी बोली नहीं है। खड़ी बोली है—"कहाँ जलती है वह आग।" सज्जनों, यह कविता इतनी मधुर इसी से हुई कि इसमें ब्रजभाषा की पुट है। अगर यह पुट न होती तो यह कविता संपुट हो जाती (हर्ष ध्वनि)।

"कहाँ जलै है वह आगी" को लेकर दिसम्बर १९१४ और जनवरी-फ़रवरी १९१५ के भारतमित्र के अंकों में पर्यालोचक और विचारक में ख़ूब वाग्युद्ध हुआ था जिसमें उक्त पँक्ति को खड़ी बोली या ब्रजभाषा की पंक्ति सिद्ध किया गया था। सत्य चाहे जिस ओर हो, यह स्पष्ट है कि 'कहाँ जलै है वह आगी' खड़ी बोली का सर्वमान्य रूप नहीं है।

पंडित श्रीधर पाठक की कविता में खड़ी बोली अपने अपरिष्कृत रूप में है जिस पर ब्रजभाषा का प्रभाव कहीं-कहीं स्पष्टतः लक्षित है।

खड़ी बोली कविता का वास्तविक प्रारम्भ श्री मैथिलीशरण गुप्त की कविता से मानना चाहिए। श्री मैथिलीशरण ने हिन्दी गद्य की सुसंस्कृत शब्दावली को क्रियारूप के साथ सरस बना कर पद्य में स्थान दिया। न तो मैथिलीशरण की कविता में भाषा का कोई असंस्कृत रूप है और न ब्रजभाषा का कोई प्रभाव ही। गुप्तजी के इस काव्य के और परिमार्जित रूप का इतना अधिक प्रभाव पड़ा कि उनके सम-कालीन कवियों ने भी (जो कभी ब्रजभाषा लिखते थे) खड़ी बोली की कविता में यथेष्ट परिमार्जन की मात्रा रक्खी। अतः श्री मैथिलीशरण गुप्त विशुद्ध खड़ी बोली के प्रथम कवि हैं। इसीलिए यह संग्रह श्री मैथिलीशरण की कविता से प्रारम्भ होता है।

श्री मैथिलीशरण ने जिस भाव-धारा को अपनी कविता में प्रवाहित किया था, वह देश-हित की भावना से पूर्ण थी। उसीसे प्रेरित होकर उन्होंने भारत-भारती की रचना की। यह भाव-धारा सम्भवतः भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के 'भारत दुर्दशा' या 'भारत जननी' से आयी हुई ज्ञात होती है। हिन्दी कविता में देश-भक्ति की भावना रीतिकाल के बाद सबसे पहले भारतेन्दु जी ने ही अपने नाटकों में रक्खी थी। उसी भावना को श्री मैथिलीशरण ने अपने अध्ययन का आधार देकर सुसंस्कृत किया। इसी-लिए मैथिलीशरण ने जिस भाव-धारा का प्रतिनिधित्व किया वह सन्धि-कालीन धारा थी जिसमें भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और महावीरप्रसाद द्विवेदी दोनों के युग का प्रतिनिधित्व करनेवाली भावनाएँ मिली हुई थीं।

सन्धिकालीन धारा में चार कवि आते हैं— श्री मैथिलीशरण, अयोध्यासिंह उपाध्याय, रामनरेश त्रिपाठी और गोपालशरण सिंह। इस विशिष्ट नामोल्लेख का यह तात्पर्य नहीं कि सन्धिकालीन धारा में इन चार के अतिरिक्त अन्य कवि नहीं हैं। धारा का निरूपण करने के लिए इन चार कवियों को ही चुन लिया गया है। श्री मैथिलीशरण गुप्त ने भाव-जगत का बड़ा विस्तृत क्षेत्र रक्खा। उन्होंने साहित्य के विकसित होते हुए दृष्टिकोण के साथ ही अपनी लेखनी की गति भी सशक्त रक्खी और उन्होंने कभी यह धारणा नहीं बनने दी कि वे समय के पीछे रह गये हैं। अधिकतर उन्होंने राष्ट्रीय भावों को जाग्रत किया है, इसलिए वे राष्ट्रीय कवि माने गये हैं। उन्होंने हिन्दू धर्म का प्रतिनिधित्व तो पूर्ण रूप से किया ही है, साथ ही साथ संस्कृति के दृष्टिकोण को कभी धूमिल नहीं होने दिया। इसका सबसे तीव्र उदाहरण यशोधरा में है, जहाँ नारीत्व की महान् मर्यादा उन्होंने संसार के संघर्षमय वातावरण में बड़ी गम्भीरता के साथ रक्खी है। साकेत में उन्होंने संस्कृत के महाकाव्य के आदर्शों को अक्षुण्ण रखते हुए उर्मिला के चरित्र को—

"बल हो तो सिन्दूर-बिन्दु यह—यह हर नेत्र निहारो"

के रूप में चित्रित कर गौरव से समन्वित कर दिया। इस प्रकार मैथिलीशरण राष्ट्र की संस्कृति को अधिक से अधिक स्पष्ट करने में प्रयत्नशील हुए हैं। आधुनिक दृष्टिकोण से धार्मिक कथा-वस्तुओं की विवेचना करते हुए मैथिलीशरण ने धर्म को व्यावहारिकता के रंग से रंजित कर दिया है। पंडित अयोध्या सिंह उपाध्याय ने भी प्रिय-प्रवास में

यही किया है। उनके श्रीकृष्ण श्रीमद्भागवत के ही कृष्ण नहीं हैं जो क्रीड़ा-विलास में अपनी अलौकिकता का परिचय देते हैं, वरन् वे जाति-सेवी, समाज-सेवी हैं; वे विश्व-बन्धुत्व की भावना से ओत-प्रोत हैं। उनके चौपदों का भाव-संसार भी प्राचीन संस्कृति का प्रतीक है। श्री रामनरेश त्रिपाठी ने अपने खंड काव्यों में आत्मोत्सर्ग और स्वदेश-प्रेम का जो आदर्श स्थापित किया है वह उनके सन्धिकालीन दृष्टिकोण का परिचायक है। श्रीगोपालशरण सिंह ने माधवी में कृष्ण का जो चित्र उपस्थित किया है वह प्राचीन परम्परा को लिये हुए भी आधुनिक भावनाओं में कितना नवीन है। श्रीकृष्ण के चरित्र को मनोवैज्ञानिक पीठिका पर चित्रित कर कवि ने आज श्रीकृष्ण को हमारे जीवन के समीप ला दिया है। मानवी में नारी की रूप रेखा, मर्यादा की बड़ी सुसंयत सीमा में चित्रित की गई है। इस प्रकार इन चार कवियों की रचना से सन्धिकालीन धारा का परिचय मिलता है जो पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी के आदर्शों से प्रभावित हुई थी।

सन्धि काल में हिन्दी कविता का परिष्करण उस सीमा तक हो गया था कि कवि अपनी मौलिक भावनाओं को आत्मा के रहस्यों की ओर प्रेरित कर दे। वस्तु स्थिति को गौण मान कर भावनाओं के अन्तर-तम प्रदेश का अन्वेषण कवि की प्रतिभा का आवश्यक अंग बन गया। इसी भावना जगत का स्पष्टीकरण नवीन धारा के कवि प्रसाद, निराला और पन्त की रचनाओं में मिला। प्रसाद ने आँसू से प्रारम्भ कर कामायनी में हृदय की प्रवृत्तियों का बड़ा सूक्ष्म विश्लेषण किया। उसमें प्रसादजी के अध्ययन का गाम्भीर्य स्पष्ट रूप से है। जीवन

के इसी भाव-गाम्भीर्य में रहस्यवाद का सूत्रपात हुआ है जिसकी सर्व-प्रथम अभिव्यक्ति प्रसादजी की रचनाओं में हुई। श्री निराला ने इसी मनोवैज्ञानिक तत्व को दर्शन की जटिल शृंखलाओं में कस कर भी कलात्मक रूप में हमारे सामने रक्खा। यद्यपि मुक्त-वृत्त की असंयत पदावली हिन्दी की संगीत-प्रिय परम्परा को ग्राह्य नहीं हो सकी तथापि जिस उन्मेष और आवेग से निराला ने काव्य की रेखा खींची वह हिन्दी में अमिट होकर रह गयी। पंडित सुमित्रानन्दन ने निराला के विपरीत कविता में उत्कृष्ट संगीत की सृष्टि की। उन्होंने भावों को जिस कोमल रूप में देखा, उसी कोमल रूप में उनके शब्द भी सुसजित हुए। पन्त की भाव-धारा में संसार की समस्त अभिव्यक्ति बड़े मोहक रूप में उपस्थित हुई। पन्त में प्रसाद और निराला का दर्शन भी संगीत का रूप रख कर आया। पन्त में यदि कोई दोष है तो वह यह कि उनमें जीवन का आवेग नहीं है। उनमें जीवन की वह कोमलता है जो पुरुष में भी शृंगार की भावना लिये हुए है। इसमें कुछ सन्देह नहीं कि उन्होंने इधर जीवन की वास्तविकता को भी कविता की रेखाओं से बाँधने का प्रयत्न किया है। 'नारी' शीर्षक रचना में उन्होंने यथार्थ-वाद को साम्यवाद के रूप में चित्रित किया है, किन्तु इस प्रकार की रचना में काव्य का वह रूप प्रस्फुटित नहीं हुआ जो अमर रह सके। उनमें न तो संकेत ही है, और न व्यजंना। और इन दोनों के बिना कविता की ध्वनि समय की दूर दिशाओं में जाने में असमर्थ है। अतः भौतिकवाद तभी कविता का अंग हो सकता है जब उसमें चित्रित भावनाओं की व्यंजनात्मक ध्वनि हो। पन्त का इस नवीन दशा में प्रयास

भले ही श्लाघ्य हो, लेकिन कविता के दृष्टिकोण से अभी उसमें परिष्करण नहीं हुआ। प्रसाद, निराला और पन्त की भावनाओं का संकेत पाकर नवीन धारा के उत्तरकालीन तीन कवि श्री महादेवी वर्मा, रामकुमार वर्मा और भगवतीचरण वर्मा, जीवन के अन्तर्हित रहस्यों को उद्घाटित करने में समर्थ हुए। तीनों का भाव-जगत् स्थूल संसार में भी सूक्ष्म प्रवृत्तियों को खोजने में समर्थ हो सका, यद्यपि तीनों की शैली भिन्न-भिन्न मार्ग के अनुसरण में संलग्न हुई। श्रीमती महादेवी ने पीड़ा की परिधि से अपने में समस्त भाव-जगत को बसाया। उन्होंने जीवन के विनाश को जीवन का एक क्रम मानते हुए उसे स्वीकार किया और उसी में आत्मा का निर्वाण माना। अपने को केन्द्र-विन्दु मानते हुए महादेवी ने अपने आराध्य को परिधि के चारों ओर खींच लिया है। उन्होंने अपने दोषों के आवरण में ही जीवन को प्रकाशमान करने के उपकरण प्राप्त किये हैं। जलन को अनापवार्य मान कर उन्होंने उसी में शान्ति की कल्पना की है। श्री रामकुमार वर्मा ने संसार की सारहीनता में अपने आराध्य को और भी स्पष्ट पाया है। रामकुमार में रहस्यवाद की भावना विशेष प्रखर है। संकेत उनका साधन है। संसार के मिटने में उन्हें क्षोभ है, रूप के विनाश में उन्हें कष्ट है, लेकिन उसके खंडहरों से वे अपने आध्यात्मिक जीवन का निर्माण करना चाहते हैं। वस्तुतः महादेवी और रामकुमार के दृष्टिकोण में अधिक भेद नहीं है। दोनों का आदर्श एक ही है, पर महादेवी ने पीड़ा और प्रेम को प्रधान माना है, रामकुमार ने करुणा और रूप को। महादेवी ने अपने आराध्य को स्पष्ट पाया है; रामकुमार ने संकेत में। श्री भगवतीचरण वर्मा ने जीवन का सूक्ष्म

तत्त्व जीवन के उद्वेग में प्राप्त किया है। वे वस्तुवाद के कायल हैं और समस्त भावावेग से वे संसार के चित्र खींच कर उनसे निष्कर्ष निकालना चाहते हैं। भगवतीचरण में संकेत बिलकुल नहीं है और न आध्यात्मिक ध्वनि है। वे स्पष्टवादी हैं और सम्पूर्ण बल से संसार को समेट कर उसे कुछ तत्त्वों में केन्द्रीभूत कर देते हैं। भगवतीचरण वर्मा का आवेश ही उनके काव्य का जीवन है। इन तीनों कवियों के बाद इस शैली के अनेक कवि हैं जिन्होंने पूर्वोक्त कवियों के सिद्धान्तों को विविध दृष्टिकोणों से पुष्ट किया है।

कविता में राष्ट्रीय भावना का जो समावेश भारतेन्दु से हुआ था, उसका स्पष्टीकरण भी आधुनिक कविता में हुआ। जो देश-प्रेम की भावना भारतेन्दु ने उद्भूत की थी, उसका पल्लवित रूप मैथिलीशरण गुप्त की कविता से होता हुआ राष्ट्रीय धारा के कवि श्री भारतीय आत्मा, बालकृष्ण शर्मा, सुभद्राकुमारी और गयाप्रसाद शुक्ल की कविता में विशेष प्रकार से आकर्षक हुआ। 'एक भारतीय आत्मा' ने काव्य की आत्मा से राष्ट्रीयता को सम्बद्ध कर एक नवीन शैली का सूत्रपात किया। काव्य के अन्तर्गत रहस्यवाद को उन्होंने देश-प्रेम में परिणत कर दिया। यद्यपि कलात्मक रूप की व्यंजना 'एक भारतीय आत्मा' को रुचिकर नहीं हुई, तथापि वे शब्द-चित्रों के निर्माण से अपने को विरत नहीं कर सके। जनता की भावना तक पहुँचने के लिए उन्होंने भाषा को साधारण ही रक्खा, इससे भी उनकी कलात्मकता की हानि हुई। भाव-चित्रण में 'एक भारतीय आत्मा' सिद्धहस्त हैं। इसी आदर्श का पालन 'नवीन' ने भी किया किन्तु उनमें रहस्यवाद की अपेक्षा भावावेश का प्राधान्य

है। साधारण शब्दों में जैसे ज्वालामुखी का अग्नि-प्रवाह है और वह देश-प्रेम की दिशा में प्रवाहित है। 'नवीन' कहीं-कहीं सौन्दर्य की भावना में कोमल हैं, शायद उस वीर की तरह जो युद्ध और अन्तःपुर दोनों स्थलों में उत्साह से पूर्ण है और जीवन के दोनों पहलुओं का क़ायल है। सुभद्राकुमारी में स्वाभाविक तेज है जो नारी के आदर्श से मिल कर और भी प्रखर हो गया है। शब्दों में सौकुमार्य है, पर अर्थ में उन्मेष। सुभद्राकुमारी की कविता भी दोनों दिशाओं में है। जहाँ एक ओर वह प्रेम भावना के सुन्दर चित्र तैयार करती हैं, दूसरी ओर वह क्षत्राणी की ललकार में प्रतिध्वनित होती है। श्री गयाप्रसाद शुक्ल 'त्रिशूल' ने अधिकतर राष्ट्रीय कविताएँ लिखी हैं यद्यपि अन्य प्रकार की रचनाओं में भी उनका अपना दृष्टिकोण है। इसी लिए वे 'सनेही' और 'त्रिशूल' दो उपनाम साथ-साथ चला सके। उर्दू और हिन्दी में उन्होंने देश-प्रेम की जो धारा प्रवाहित की, उसमें स्पष्टतः वर्णनात्मकता है। देश-प्रेम की सीधी भावना को उन्होंने सीधे शब्दों में वर्णन करना ही अधिक उचित समझा है, यद्यपि उस सरल शैली में भी जागृति है, उत्साह है और उमंग की अजेय शक्ति। इस प्रकार राष्ट्रीय धारा के कवियों ने दो व्यक्ति उपस्थित किये हैं—एक शृंगार का और दूसरा वीर का और दोनों में उन्होंने समान रूप से सफल रचनाएँ की हैं।

हिन्दी कविता की मुख्य धाराओं और उनके कवियों का यह संक्षिप्त निरूपण है। इस संग्रह में जो कुछ अन्य कवियों के नाम नहीं आ सके हैं, उसका कारण केवल विस्तार-भय ही है, किसी के प्रति उपेक्षा का भाव नहीं। किसी विशेष धारा में जो कवि साधारण रूप

से आ सके हैं, उन्हीं की चुनी हुई रचनाओं का यह संग्रह है। इस संग्रह में कुछ कवियों के स्थान पर कुछ अन्य कवि भी आ सकते हैं और कुछ रचनाओं के स्थान पर अन्य रचनाएँ भी रक्खी जा सकती हैं। पर यह तो रुचि-भेद है अतः हम इस संग्रह को प्रस्तुत करते हुए आशा करते हैं कि इससे हिन्दी के विद्यार्थियों और कविता के जिज्ञासुओं को हिन्दी कविता की प्रवृत्तियों को समझने में सहायता मिलेगी।

विषय-सूची

सन्धि-कालीन धारा

नवीनधारा (उत्तर)

राष्ट्रीय धारा

———

आधुनिक हिन्दी काव्य

श्री मैथिली शरण गुप्त

श्री मैथिली शरण गुप्त हिन्दी के प्रतिनिधि कवि हैं। उन्हें सम्वत् १६६३ में 'साकेत' ग्रन्थ पर मंगलाप्रसाद पारितोषिक प्रदान किया गया था। हिन्दी साहित्य संसार ने उनका सम्मान 'गुप्त जयन्ती' मनाकर और 'मैथिली-मान-ग्रन्थ' समर्पित कर गत वर्ष किया था। ये द्विवेदी काल के कवि हैं और उसी समय से अपनी कविता का परिमार्जन और संस्करण करते चले आ रहे हैं। यद्यपि बाबू मैथिलीशरण उपन्यासकार या कहानी-लेखक नहीं हैं, तथापि उनकी कविता का क्षेत्र बहुत व्यापक है। उन्होंने धार्मिक, ऐतिहासिक, पौराणिक, राष्ट्रीय और साहित्यिक, कृतियाँ हिन्दी-संसार को दी हैं। चन्द्रहास या तिलोत्तमा जैसे नाटक भी लिखे हैं, पर चरित्रों के संघर्ष में असफलता पाने के कारण वे नाटककार के रूप में अधिक प्रसिद्ध नहीं हो सके। ये नाटक पौराणिक ही हैं, कथा के विकास में उनकी कल्पना सहायक नहीं हुई। वे कथा को उसी रूप में अपने काव्य की पुट मिलाकर रख देते हैं। धार्मिक रचनाओ में हिन्दू, तेग़ बहादुर आदि रचनाएँ प्रसिद्ध हैं। इन रचनाओं में वे राष्ट्रीय भी हो गये हैं। और हमारे सामने हिन्दू धर्म के प्रतिनिधि कवि के रूप में भी आये हैं।

पहले पहल 'रंग में भंग', 'भारत भारती' और 'जयद्रथ वध' में हमें कवि का परिचय मिला। 'रंग में भंग' एक ऐतिहासिक वृत्त है, जिसमें वर्णनात्मकता अधिक है। 'भारत भारती' ने हमें कवि की राष्ट्रीयता के बहुत निकट ला दिया। उन्होंने भारत के अतीत, वर्तमान और भविष्य के चित्र स्पष्टता और काव्य-कौशल से खींचे। इसी ग्रन्थ ने कवि को लोक-प्रियता प्रदान की। अपने समय में 'भारत भारती' की रचना से हिन्दी साहित्य आलोकित हो उठा था। 'जयद्रथ वध' में अभिमन्यु का शौर्य और का उत्तरा विलाप वर्णित है। यह एक खंड-काव्य है। वीर और करुण दो विपरीत रस स्थान-स्थान पर अद्वितीय रूप में हैं। करुण रस तो मानों उत्तरा के आँसुओं से ही लिखा गया है। उसने हिन्दी के न जाने कितने पाठकों की आँखों से आँसू बहा दिये हैं।

साहित्य की प्रगति में गुप्त जी ने पूरा योग दिया है। कविता की आधुनिक प्रगति में भी वे पीछे नहीं रहे हैं। उन्होने 'झंकार' नामक कविता-ग्रन्थ में छायावाद की भावना को बहुत स्पष्ट कर दिया है। उसमें भी 'अनन्त' के लिए आसक्ति है। पर गुप्त जी का यह 'अनन्त' उपनिषदों का ब्रह्म है और वे उसे पाने के प्रयत्न की परिधि भौतिकवाद के विन्दु से खींचते हैं। वर्तमान कविता का दृष्टिकोण वे सफलतापूर्वक रखने में समर्थ हो सके हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं।

उन्होंने धार्मिक ग्रन्थों में 'साकेत' और 'द्वापर' की रचना कर अपनी मौलिकता प्रदर्शित की है। 'साकेत' में गुप्त जी ने कैकेयी और उर्मिला के चित्रण में अपनी प्रतिभा का चमत्कार दिखलाया है। 'द्वापर' में

उन्होंने कृष्ण-चरित्र के प्रत्येक पात्र की रूप-रेखा खींच कर भ्रमरगीत को नवीन रूप से लिखा है।

'यशोधरा' एक ऐतिहासिक वृत्त है। सिद्धार्थ के गृह-त्याग पर उनकी पत्नी यशोधरा के स्त्री-हृदय का चित्रण अद्वितीय है।

अबला जीवन, हाय ! तुम्हारी यही कहानी—
आँचल में है दूध, और आँखों में पानी।

के सिद्धान्त पर ही इसकी रचना हुई है। हृदय के चित्रण में 'यशोधरा' का विशेष स्थान है। अभी हाल ही में प्रकाशित (सं० १९९४) मंगल घट में उनकी पुरानी कविताएँ संग्रहीत हैं।

मैथिलीशरण गुप्त की प्रतिभा हिन्दी में अद्वितीय है। वे अब भी उतने ही नवीन हैं, जितने तीस वर्ष पहले थे।

आँख मिचौनी

अच्छी आँख मिचौनी खेली,

बार बार तुम छिपो और मैं
खोजूँ तुम्हें अकेली।

किसी शान्त एकान्त कुंज में
तुम जाकर सो जाओ;

भटकूँ इधर उधर मैं, इसमें
क्या रस है बतलाओ ?

यदि मैं छिपूँ और तुम खोजो,
अनायास ही पाओ,

कहाँ नहीं तुम जहाँ छिपूँ मैं,
जाने भी दो,—आओ

करें बैठ रँग रेली।
अच्छी आँख मिचौनी खेली।

पर जब तुम हो सभी कहीं, तब
मैं ही क्यों यों भटकूँ,

चाहूँ जिधर उधर ही अपना
भार पटक कर सटकूँ;

इसकी भी क्या आवश्यकता
जो बाहर पर अटकूँ;
अन्तर के ही अन्धकार में
क्यों न पीत पट झटकूँ,
बन अपनी ही चेली।
अच्छी आँख मिचौनी खेली।

असावधाना

अब जागी—अरी अभागी!
अब जागी! खोने को सोयी
अब रोने को जागी!
लिखती रही स्वप्न की लेखा,
आये प्रिय प्रत्यक्ष, न देखा,
निरख, रख गये हैं ध्वज-रेखा,
वे पद-पद्म-परागी,
अब जागी—अरी अभागी!
झुक, धीरे कोमल कर फेरा,
जागा पुलक भाव भर तेरा,
बस सुहाग का हुआ सवेरा,
गूँजा राग विहागी,
अब जागी—अरी अभागी!

सुख संस्मरण और भी दुख है,
कहता-सा सम्मुख वह मुख है,
'इसको सपने का ही सुख है,'
तब भी नींद न भागी!
अब जागी—अरी अभागी!

सपने को तो सच्चा माना;
सच्चे को खो दिया, न जाना,
अब तो दोनों को पहचाना,
त्याग गये जब त्यागी?
अब जागी—अरी अभागी!

किधर गये क्या जानें, अब वे,
मार्ग देख, लौटें फिर जब वे,
एक ठौर ठहरे हैं कब वे?
सब उनके अनुरागी।
अब जागी—अरी अभागी!

आयी उषा, अहा क्या लायी?
उनकी श्वास-सुरभि फिर आयी!
तेरी व्यथा विश्व में छायी!
वही विश्व के भागी,
अब जागी—अरी अभागी!

———

विहंगम

सौ-सौ ज्ञान-तन्तुओं के मैं
जाल बराबर बुनता हूँ,
पर तू फँसता नहीं विहंगम,
लाख-लाख सिर धुनता हूँ।
तुझे पालने ही की मेरे
मन में है अभिलाषा,
पर तू नहीं समझता मेरी
परम परिष्कृत भाषा।
मैं तो तेरी एक तान भी
तन्मय होकर सुनता हूँ,
सौ-सौ ज्ञान-तन्तुओं के मैं
जाल बराबर बुनता हूँ।
पिंजर की रचना में कितनी
दिखला रहा कला मैं
करता हूँ इतना श्रम पंछी,
किसके लिए भला मैं?
तुझे चुगाने को अच्छे से
अच्छा चारा चुनता हूँ,

सौ-सौ ज्ञान तन्तुओं के मैं
जाल बराबर बुनता हूँ।

गूँज गया मेरा मन, तेरे
मृदु-मधुरोच्चारण से,
पर विश्वास नहीं करता तू
मेरा किस कारण से ?

इसी एक अपमान-वह्नि से
मैं जलता हूँ, भुनता हूँ,
सौ-सौ ज्ञान तन्तुओं के मैं
जाल बराबर बुनता हूँ।

मुझ से उड़ कर भाग भले ही
आज अविश्वासी तू,
किन्तु अन्त में, इसी विश्व का
होगा, हाँ, वासी तू।

देखूँ, कितने गुन हैं तुझ में ?
गिन-गिन कर मैं गुनता हूँ,
सौ-सौ ज्ञान तन्तुओं के मैं
जाल बराबर बुनता हूँ।

(झंकार से)

———

उर्मिला की विरह-व्यथा

वेदने, तू भी भली बनी,

पायी मैंने आज तुझी में अपनी चाह बनी।
नयी किरण छोड़ी है तू ने, तू वह हीर कनी,
सजग रहूँ मैं, साल हृदय में, ओ प्रिय-विशिख-अनी!
ठंडी होगी देह न मेरी, रहे दृगम्बु-सनी,
तूही उष्ण उसे रक्खेगी मेरी तपन-मनी!
आ, अभाव की एक आत्मजे, और अदृष्टि-जनी!
तेरी ही छाती है सचमुच उपमोचितस्तनी!
अरी वियोग-समाधि, अनौखी, तू क्या ठीक ठनी,
अपने को, प्रिय को, जगती को, देखूँ खिंची-तनी।
मन-सा मानिक मुझे मिला है तुझमें उपल-खनी,
तुझे तभी त्यागूँ जब सजनी, पाऊँ प्राण-धनी।

कहती मैं, चातकि, फिर बोल,

ये खारी आँसू की बूँदें दे सकतीं यदि मोल!
कर सकते हैं क्या मोती भी उन बोलों की तोल?
फिर भी, फिर भी, इस झाड़ी के झुरमुट में रस घोल।
श्रुति-पुट लेकर पूर्व स्मृतियाँ खड़ीं यहाँ पट खोल,
देख, आप ही अरुण हुए हैं उनके पाँडु कपोल!

जाग उठे हैं मेरे सौ-सौ स्वप्न स्वयम् हिल-डोल,
और सन्न हो रहे, सो रहे, ये भूगोल खगोल।
न कर वेदना-सुख से वंचित, बढ़ा हृदय-हिन्दोल,
जो तेरे सुर में सो मेरे उर में कल-कल्लोल!

निरख सखी, ये खंजन आये,
फेरे उन मेरे रंजन ने नयन इधर मन भाये!
फैला उनके तन का आतप, मन-से सर सरसाये,
घूमें वे इस ओर वहाँ, ये हंस यहाँ उड़ छाये!
करके ध्यान आज इस जन का निश्चय वे मुसकाये,
फूल उठे हैं कमल, अधर-से ये वन्धूक सुहाये!
स्वागत! स्वागत शरद! भाग्य से मैंने दर्शन पाये,
नभ ने मोती वारे, लो, ये अश्रु अर्घ्य भर लाये!

शिशिर, न फिर, गिरि-वन में,
जितना माँगे, पतझड़ दूँगी मैं इस निज नन्दन में,
कितना कम्पन तुझे चाहिए, ले मेरे इस तन में,
सखी कह रही, पांडुरता का क्या अभाव आनन में?
वीर, जमा दे नयन-नीर यदि तू मानस-भाजन में,
तो मोती-सा मैं अकिंचना रक्खूँ उसको मन में,
हँसी गयी, रो भी न सकूँ मैं,—अपने इस जीवन में,
तो उत्कंठा है, देखूँ फिर क्या हो भाव-भुवन में?

झे फूल मत मारो,
मैं अबला बाला वियोगिनी, कुछ तो दया विचारो।
होकर मधु के मीत, मदन पटु, तुम कटु गरल न गारो,
मुझे विकलता, तुम्हें विफलता, ठहरो, श्रम परिहारो।
नहीं भोगनी यह मैं कोई, जो तुम जाल पसारो,
बल हो तो सिन्दूर-विन्दु यह—यह हर-नेत्र निहारो!
रूप-दर्प कन्दर्प, तुम्हें तो मेरे पति पर वारो,
लो, यह मेरी चरण-धूलि उस रति के सिर पर धारो!

यही आता है इस मन में,
छोड़ धाम-धन जाकर मैं भी रहूँ उसी वन में।
प्रिय के व्रत में विघ्न न डालूँ, रहूँ निकट भी दूर,
व्यथा रहे, पर साथ-साथ ही समाधान भरपूर।
हर्ष डूबा हो रोदन में,
यही आता है इस मन में।
बीच-बीच में उन्हें देख लूँ मैं झुरमुट की ओट,
जब वे निकल जायँ तब लेटूँ उसी धूल में लोट।
रहें रत वे निज साधन में,
यही आता है इस मन में।
जाती-जाती, गाती-गाती, कह जाऊँ यह बात—
धन के पीछे जन, जगती में उचित नहीं उत्पात।
प्रेम की ही जय जीवन में,
यही आता है इस मन में।

कैकेयी का परिताप

तदनन्तर बैठी सभा उटज के आगे,
नीले वितान के तले दीप बहु जागे,
टकटकी लगाये नयन सुरों के थे वे,
परिणामोत्सुक उन भयातुरों के थे वे।

उत्फुल्ल, करौंदी-कुंज वायु रह-रह कर,
करती थी सब को पुलक पूर्ण मह-मह कर।
वह चन्द्र लोक था, कहाँ चाँदनी वैसी ?
प्रभु बोले गिरा गँभीर नीर-निधि जैसी,

"हे भरत भद्र, अब कहो अभीप्सित अपना,"
सब सजग हो गये, भंग हुआ ज्यों सपना।
"हे आर्य, रहा क्या भरत-अभीप्सित अब भी ?
मिल गया अकंटक राज्य उसे जब, तब भी ?
पाया तुमने तरु-तले अरण्य बसेरा,
रह गया अभीप्सित शेष तदपि क्या मेरा ?
तनु तड़प-तड़प कर तप्त तात ने त्यागा,
क्या रहा अभीप्सित और तथापि अभागा ?
हा ! इसी अयश के हेतु जनन था मेरा,
निज जननी ही के हाथ हनन था मेरा !
अब कौन अभीप्सित और आर्य वह किसका ?
संसार नष्ट है भ्रष्ट हुआ घर जिसका !

मुझ से मैंने ही आज स्वयम् मुँह फेरा,
हे आर्य, बतादो तुम्हीं अभीप्सित मेरा ?"
प्रभु ने भाई को पकड़ हृदय पर खींचा,
रोदन जल से सविनोद उन्हें फिर सींचा,
"उसके आशय की थाह मिलेगी किसको,
जन कर जननी ही जान न पायी जिसको ?"
"यह सच है तो अब लौट चलो तुम घर को,"
चौंके सब सुन कर अटल कैकयी स्वर को।
सब ने रानी की ओर अचानक देखा,
वैधव्य-तुषारावृता यथा विधु लेखा,
बैठी थी अचल तथापि असंख्य तरंगा,
वह सिंही अब थी, हहा ! गोमुखी गंगा—
"हाँ, जन कर भी मैंने न भरत को जाना,
सब सुन लें तुमने स्वयम् अभी यह माना,
यह सच है तो फिर लौट चलो घर भैया,
अपराधिन मै हूँ तात, तुम्हारी मैया।
दुर्बलता का ही चिन्ह-विशेष शपथ है,
पर, अबलाजन के लिए कौन-सा पथ है ?
यदि मैं उकसायी गयी भरत से होऊँ,
तो पति समान ही स्वयम् पुत्र भी खोऊँ।
ठहरो, मत रोको मुझे—कहूँ सो सुन लो—
पाओ यदि उसमें सार, उसे सब चुन लो।

करके पहाड़ सा पाप मौन रह जाऊँ ?
राई भर भी अनुताप न करने पाऊँ ?"
थी सनक्षत्र शशि-निशा ओस टपकाती,
रोती थी नीरव सभा हृदय थपकाती ;
उल्का-सी रानी, दिशा दीप्त करती थी;
सब में भय, विस्मय, और भेद भरती थी।
"क्या कर सकती थी मरी मन्थरा दासी ?
मेरा ही मन रह सका न निज विश्वासी।
जल, पंजर-गत अब, अरे अधीर, अभागे,
वे ज्वलित भाव थे स्वयम् तुझी में जागे,
पर था केवल क्या ज्वलित भाव ही मन में ?
क्या शेष बचा था कुछ न और इस जन में ?
कुछ मूल्य नहीं वात्सल्य-मात्र, क्या तेरा ?
पर आज अन्य-सा हुआ वत्स भी मेरा !
थूके, मुझ पर त्रैलोक्य भले ही थूके,
जो कोई जो कह सके, कहे, क्यों चूके !
छीने न मातृपद किन्तु भरत का मुझसे,
रे राम, दुहाई करूँ और क्या तुझसे !
कहते आते थे यही अभी नर-देही,
'माता न कुमाता, पुत्र कुपुत्र भले ही।'
अब कहें सभी यह हाय ! विरुद्ध विधाता,
'है पुत्र पुत्र ही, रहे कुमाता माता।'

बस मैंने इसका बाह्य मात्र ही देखा,
दृढ़ हृदय न देखा, मृदुल गात्र ही देखा;
परमार्थ न देखा, पूर्ण स्वार्थ ही साधा,
इस कारण ही तो हाय आज यह बाधा!
युग युग तक चलती रहे कठोर कहानी—
'रघुकुल में भी थी एक अभागी रानी।'
निज जन्म-जन्म में सुने जीव यह मेरा—
'धिक्कार उसे था महा स्वार्थ ने घेरा!'
"सौ बार धन्य वह एक लाल की माई,
जिस जननी ने है जना भरत सा भाई।"
पागल-सी प्रभु के साथ सभा चिल्लायी—
"सौ बार धन्य वह एक लाल की माई।"
"हा लाल! उसे भी आज गँवाया मैंने,
विकराल कुयश ही यहाँ कमाया मैंने,
निज स्वर्ग उसी पर वार दिया था मैंने,
हर तुम तक से अधिकार लिया था मैंने;
पर वही आज यह दीन हुआ रोता है,
शंकित सब से धृत हरिण-तुल्य होता है।
श्रीखंड आज अंगार-चंड है मेरा,
फिर इससे बढ़ कर कौन दंड है मेरा?
पटके मैंने पद-पाणि मोह के नद में,
जन क्या-क्या करते नहीं स्वप्न में, मद में?

हा ! दंड कौन ? क्या उसे डरूँगी अब भी ?
मेरा विचार कुछ दयापूर्ण हो तब भी।
हा दया ! हन्त ! वह घृणा ! अहह वह करुणा !
वैतरणी-सी है आज जान्हवी-वरुणा !!
सह सकती हूँ चिर नरक, सुनें सुविचारी,
पर मुझे स्वर्ग की दया दंड से भारी।
लेकर अपना यह कुलिश कठोर कलेजा,
मैंने इसके ही लिए तुम्हें वन भेजा।
घर चलो इसी के लिए, न रूठो अब यों,
कुछ और कहूँ तो उसे सुनेंगे सब क्यों ?
मुझको यह प्यारा और इसे तुम प्यारे,
मेरे दुगुने प्रिय रहो न मुझ से न्यारे।
मैं इसे न जानूँ, किन्तु जानते हो तुम,
अपने से पहले इसे मानते हो तुम,
तुम भ्राताओं का प्रेम परस्पर जैसा,
यदि वह सब पर यों प्रकट हुआ है वैसा,
तो पाप-दोष भी पुण्य-तोष है मेरा,
मैं रहूँ पंकिला, पद्म-कोष है मेरा।
आगत ज्ञानी जन उच्च भाल ले ले कर,
समझावें तुमको अतुल युक्तियाँ देकर,
मेरे तो एक अधीर हृदय है बेटा,
उसने फिर तुमको आज भुजा भर भेटा,

देवों की ही चिरकाल नहीं चलती है,

दैत्यों की भी दुर्वृत्ति यहाँ फलती है।"

हँस पड़े कैकयी-कथन देव यों सुन कर,

रो दिये क्षुब्ध दुर्दैव दैत्य सिर धुन कर;

"छल किया भाग्य ने मुझे अयश देने का,

बल दिया उसी ने भूल मान लेने का,

अब कटे सभी वे पाश नाश के प्रेरे,

मैं वही कैकयी, वही राम तुम मेरे।

होने पर बहुधा अर्ध रात्रि अन्धेरी,

जीजी आकर करती पुकार थीं मेरी—

'लो कुहकिनि, अपना कुहक, राम यह जागा,

निज मँझली माँ का स्वप्न देख उठ भागा!'

भ्रम हुआ भरत पर मुझे व्यर्थ संशय का,

प्रतिहिंसा ने ले लिया स्थान तब भय का।

तुम पर भी ऐसी भ्रान्ति भरत से पाती,

तो उसे मनाने भी न यहाँ मैं आती।

जीजी ही आतीं—किन्तु कौन मानेगा?

जो अन्तर्यामी, वही इसे जानेगा।"

"हे अम्ब तुम्हारा राम जानता है सब,

इस कारण वह कुछ खेद मानता है कब?"

"क्या स्वाभिमान रखती न कैकयी रानी?

बतला दे कोई मुझे उच्चकुल मानी।

सहती कोई अपमान तुम्हारी अम्बा ?
पर हाय, आज वह हुई निपट नालम्बा।
मैं सहज मानिनी रही, वही क्षत्राणी,
इस कारण सीखी नहीं दैन्य यह वाणी।
पर महादीन हो गया आज मन मेरा,
भावज्ञ, सहेजो तुम्हीं भाव-धन मेरा।
समुचित ही मुझको विश्व-घृणा ने घेरा,
समझाता कौन सशान्ति मुझे, भ्रम मेरा ?
यों ही तुम वन को गये, देव सुरपुर को,
मैं बैठी ही रह गयी लिये इस उर को !
बुझ गयी पिता की चिता भरत भुज-धारी,
पितृ-भूमि आज भी तप्त तथापि तुम्हारी।
भय और शोक सब दूर उड़ाओ उसका,
चलकर सुचरित, फिर हृदय जुड़ाओ उसका,
हो तुम्हीं भरत के राज्य, स्वराज्य सम्हालो,
मैं पाल सकी न स्वधर्म, उसे तुम पालो।
स्वामी को जीते जी न दे सकी सुख मैं,
मर कर तो उनको दिखा सकूँ यह मुख मैं।
मर मिटना भी है एक हमारी क्रीड़ा;
पर भरत-वाक्य है—सहूँ विश्व की व्रीड़ा।
जीवन-नाटक का अन्त कठिन है मेरा,
प्रस्ताव-मात्र में जहाँ अधैर्य अँधेरा।

अनुशासन ही था मुझे अभी तक आता,

करती है तुम से विनय आज यह माता।"

(साकेत से)

यशोधरा

(१)

सिद्धि-हेतु स्वामी गये, यह गौरव की बात ;

पर चोरी-चोरी गये, यही बड़ा व्याघात।

सखि, वे मुझसे कह कर जाते,

कह, तो क्या मुझको वे अपनी पथ-बाधा ही पाते ?

मुझको बहुत उन्होंने माना,

फिर भी क्या पूरा पहचाना ?

मैंने मुख्य उसी को जाना,

जो वे मन में लाते।

सखि, वे मुझसे कह कर जाते।

स्वयम् सुसज्जित करके क्षण में,

प्रियतम को, प्राणों के पण में,

हमीं भेज देती हैं रण में—

क्षात्र-धर्म के नाते।

सखि, वे मुझसे कह कर जाते।

हुआ न यह भी भाग्य अभागा,
किस पर विफल गर्व अब जागा ?
जिसने अपनाया था, त्यागा;
रहें स्मरण ही आते।
सखि, वे मुझसे कह कर जाते।

नयन उन्हें हैं निष्ठुर कहते,
पर इनसे जो आँसू बहते,
सदय हृदय वे कैसे सहते ?
गये तरस ही खाते।
सखि, वे मुझके कहकर जाते।

जाँय सिद्धि पावें वे सुख से,
दुखी न हों इस जन के दुख से,
उपालम्भ दूँ मैं किस मुख से ?
आज अधिक वे भाते।
सखि, वे मुझसे कह कर जाते।

गये, लौट भी वे आवेंगे,
कुछ अपूर्व अनुपम लावेंगे,
रोते प्राण उन्हें पावेंगे,
पर क्या गाते गाते ?
सखि, वे मुझसे कह कर जाते।

———

परीक्षा

(२)

अब कठोर हो वज्रादपि, ओ कुसुमादपि सुकुमारी,
आर्यपुत्र दे चुके परीक्षा, अब है मेरी बारी।

मेरे लिए पिता ने सब से धीर-वीर वर चाहा,
आर्यपुत्र को देख उन्होंने सभी प्रकार सराहा।
फिर भी हठ कर हाय! वृथा ही उन्हें उन्होंने थाहा,
किस योद्धा ने बढ़कर उनका शौर्य-सिन्धु अवगाहा?

क्यों कर सिद्ध करूँ अपने को मैं उन नर की नारी?
आर्यपुत्र दे चुके परीक्षा, अब है मेरी बारी।

सभी सुन्दरी बालाओं में मुझे उन्होंने माना,
सब ने मेरा भाग्य सराहा, सब ने रूप बखाना,
खेद, किसी ने उन्हें न फिर भी ठीक-ठीक पहचाना,
भेद चुने जाने का अपने मैंने भी अब जाना,

इस दिन के उपयुक्त पात्र की उन्हें खोज थी सारी!
आर्यपुत्र दे चुके परीक्षा, अब है मेरी बारी।

मैं अबला! पर वे तो विश्रुत वीर-बली थे मेरे,
मैं इन्द्रियासक्त! पर वे कब थे विषयों के चेरे?
अयि मेरे अर्द्धांगि-भाव क्या विषय मात्र थे तेरे?
हा! अपने अंचल में किसने ये अंगार बिखेरे?

है नारीत्व मुक्ति में भी तो, ओ वैराग्य-विहारी!
आर्यपुत्र दे चुके परीक्षा, अब है मेरी बारी।

सिद्धि मार्ग की बाधा नारी! फिर उसकी क्या गति है?
पर उनसे पूछूँ क्या, जिनको मुझसे आज? विरति है!
अर्द्ध विश्व में व्याप्त शुभाशुभ मेरी भी कुछ मति है।
मैं भी नहीं अनाथ जगत में, मेरा भी प्रभु पति है!

यदि मैं पतिव्रता तो मुझको कौन भार-भय भारी?
आर्यपुत्र दे चुके परीक्षा, अब है मेरी बारी?

यशोधरा के भूरि भाग्य पर ईर्षा करने वाली,
तरस न खाओ कोई उस पर, आओ भोली-भाली!
तुम्हें न सहना पड़ा दुःख यह, मुझे यही सुख आली,
वधू-वंश की लाज दैव ने आज मुझी पर डाली।

बस, जातीय सहानुभूति ही मुझ पर रहे तुम्हारी।
आर्यपुत्र दे चुके परीक्षा, अब है मेरी बारी।

जाओ नाथ, अमृत लाओ तुम, मुझ में मेरा पानी;
चेरी ही मैं बहुत तुम्हारी, मुक्ति तुम्हारी रानी।
प्रिय तुम तपो, सहूँ मैं भरसक, देखूँ बस हे दानी—
कहाँ तुम्हारी गुण-गाथा में मेरी करुण-कहानी?

तुम्हें अप्सरा-विघ्न न व्यापे यशोधरा कर-धारी!
आर्यपुत्र दे चुके परीक्षा, अब है मेरी बारी।

सहानुभूति

(३)

सखि, वसन्त-से कहाँ गये वे,
मैं ऊष्मा-सी यहाँ रही।
मैंने ही क्या सहा, सभी ने
मेरी बाधा-व्यथा सही।

तप मेरे मोहन का उद्धव धूल उड़ाता आया,
हाय ! विभूति रमाने का भी मैंने योग न पाया।
सूखा कंठ, पसीना छूटा, मृगतृष्णा की माया,
झुलसी दृष्टि, अँधेरा दीखा, दूर गयी वह छाया।

मेरा ताप और तप उनका,
जलती है हा ! जठर मही,
मैंने ही क्या सहा, सभी ने
मेरी बाधा-व्यथा सही।

जागी किसकी वाष्पराशि, जो सूने में सोती थी ?
किसकी स्मृति के बीज उगे थे, सृष्टि जिन्हें बोती थी ?
अरी वृष्टि, ऐसी ही उनकी दया-दृष्टि रोती थी ;
विश्व-वेदना की ऐसी चमक उन्हें होती थी !

किसके भरे हृदय की धारा,
शतधा हो कर आज वही ?

मैंने ही क्या सहा, सभी ने
मेरी वाधा-व्यथा सही।

उनकी शान्ति-कान्ति की ज्योत्स्ना जगती है पल-पल में,
शरदातप उनके विकास का सूचक है थल-थल में,
नाच उठी आशा प्रति दल पर किरणों की झल-झल में,
खुला सलिल का हृदय-कमल खिल हंसों के कल-कल में।

पर मेरे मध्यान्ह ! वता क्यों
तेरी मूर्च्छा बनी वही ?
मैंने ही क्या सहा, सभी ने
मेरी वाधा-व्यथा सही।

हेमपुंज हेमन्त काल के इस आतप पर वारूँ,
प्रियस्पर्श की पुलकावलि मैं कैसे आज विसारूँ ?
किन्तु शिशिर, ये ठंडी साँसें, हाय ! कहाँ तक धारूँ ?
तन गारूँ, मन मारूँ, पर क्या मैं जीवन भी हारूँ ?

मेरी बाँह गही स्वामी ने,
मैंने उनकी छाँह गही,
मैंने ही क्या सहा, सभी ने
मेरी वाधा-व्यथा सही।

पेड़ों ने पत्ते तक, उनका त्याग देख कर त्यागे,
मेरा धुँधलापन कुहरा बन छाया सब के आगे।
उनके तप के अग्नि-कुंड-से घर-घर में हैं जागे,
मेरे कम्प, हाय ! फिर भी तुम नहीं कहीं से भागे।

पानी जमा, परन्तु न मेरे
खट्टे दिन का दूध-दही,
मैंने ही क्या सहा, सभी ने
मेरी बाधा-व्यथा सही।

आशा से आकाश थमा है, श्वास-तन्तु कब टूटे ?
दिन-मुख दमके, पल्लव चमके, भव ने नव रस लूटे !
स्वामी के सद्भाव फैल कर फूल फूल में फूटे,
उन्हें खोजने को ही मानो नूतन निर्झर छूटे।

उनके श्रम के फल सब भोगें,
यशोधरा की विनय यही,
मैंने ही क्या सहा, सभी ने
मेरी बाधा-व्यथा सही।

(यशोधरा से)

———

गोपी

राधा का प्रणाम मुझ से लो,
श्याम-सखे, तुम ज्ञानी ;
ज्ञान भूल, बन बैठा उसका,
रोम रोम ध्रुव-ध्यानी।
न तो आज कुछ कहती है वह
और न कुछ सुनती है ;
अन्तर्यामी ही यह जाने,
क्या गुनती बुनती है ?
कर सकती तो करती तुम से
प्रश्न आप वह ऐसे—
"सखे, लौट आये गोकुल से ?
कहो, राधिका कैसे ?"
राधा हरि बन गयी, हाय ! यदि
हरि राधा बन पाते,
तो उद्धव मधुवन से उलटे
तुम मधुपुर ही जाते।
अभी विलोक एक अलि उड़ता,
उसने चौंक कहा था—
"सखि, वह आया, इस कलिका में
क्या कुछ शेष रहा था ?"

पर तत्क्षण ही गरज उठी वह
भौंह चढ़ा कर बाँकी—
"सावधान अलि ! हट कर लेना
तू प्यारी की झाँकी !"

आत्मज्ञान-हीन वह मुग्धा,
वही ज्ञान तुम लाये;
धन्यवाद हैं, बड़ी कृपा की,
कष्ट उठा कर आये।
पर वह भूली रहे आपको,
उसको सुध न दिलाना,
होगा कठिन अन्यथा उसका
जीना और जिलाना।

डूबी-सी वह बीच-बीच में
पलक खोल कर आधे,
चिल्ला उठती है विलोल-सी
बोल—'राधिके, राधे !'
ज्ञान योग से हमें हमारा
प्रेम-वियोग भला है,
जिसमें आकृति, प्रकृति, रूप, गुण,
नाट्य, कवित्त्व, कला है।

राम-राम! मिथ्या माया के
भाव कहाँ से जागे?
सच्चे ज्ञान, अनन्त ब्रह्म के
जीव आप तुम आगे!
विद्यमान सब विगत क्यों न हो,
किन्तु समागत भावी;
मिथ्या कैसे है माया भी,
जब तक वह मायावी?

हम में तुम में एक ब्रह्म, पर
वह कैसा नटखट है,
बोलो दो घट में दो बातें,
करा रहा खटपट है।
उसको यही प्रपंच रुचे तो
हमें कौन-सी व्रीड़ा?
एक-मात्र यदि वही रहे तो
चले कहाँ से क्रीड़ा?

होगा निर्गुण, निराकार वह,
छली तुम्हारे लेखे;
हम से पूछो तुम, उसके गुन—
रूप हमारे देखे।

अन्तर्दृष्टि मिले तो हम भी
शून्य देख लें अब के;
पर जब तक हैं, कहो क्या करें—
चर्म-चक्षु हम सब के ?

कहाँ हमारा कृष्ण, हाय ! हम
यह क्या तुम्हें बतावें;
ठौर नहीं दिखलायी पड़ता,
उसको जहाँ जतावें।
अब तक यहाँ ध्यान में तो था
वह मोहन मन-भाया;
किन्तु आ अड़ी आज बीच में
कूद ज्ञान की माया !

चाहे क्या राधा वियोगिनी,
स्वयम् योग लाये तुम;
आहा ! क्या ज्ञानाग्नि-रूप में
भाग्य-भोग लाये तुम !
दृश्यमान का भस्म लेप कर
फिरे योगिनी वन में;
उसका योगिराज, वह राजे
मथुरा-राज-भवन में !

क्या जानें, ज्ञानी ने उसका
ज्ञान, कहाँ कब सीखा;
ज्ञान और अज्ञान हमें तो
यहाँ एक-सा दीखा!
देख न पावें आप आप को,
ये आँखें तो भय क्या?
सब में उस अपने को देखें,
तब भी कुछ संशय क्या?

गायें यहाँ घेरनी पड़तीं,
नाच नाचना पड़ता;
वह रस गोरस कभी चुराना,
कभी जाँचना पड़ता।
राजनीति का खेल यहाँ है
सूक्ष्म-बुद्धि पर सारा;
निराकार-सा हुआ ठीक ही,
वह साकार हमारा।

आते-जाते प्रति दिन बन से
घर, फिर घर से बन को,
वह बढ़ गया और कुछ उस दिन
नगर पवन सेवन को!

यही बहुत हम ग्रामीणों को
जो न वहाँ वह भूला,
किंवा संग वहाँ भी थी यह
कालिन्दी कल—कूला।

सचमुच ही हम देख रही थीं
जगते जगते सपना;
जहाँ रहे, बस सुखी रहे वह,
दुःख हमारा अपना।
यौवन सा शैशव था उसका,
यौवन का क्या कहना ?
कुब्जा से बिनती कर देना—
'उसे देखती रहना।'

कृपया वचन न मन में रखना
तुम अन्यान्य हमारे;
प्रिय के बन्धु, अतिथि हो उद्धव,
तुम सम्मान्य हमारे।
विवशों का मन, वाणी को भी,
व्याकुल कर देता है;
आर्त्तों का आक्रोश ईश भी
सुन कर सह लेता है।

ज्ञानी हो तुम, किन्तु भाग्य तो
अपना अपना होता;
वक्ता भी क्या करे, न पावे
यदि अधिकारी श्रोता ?
हम अपने को जान न पायीं,
उसको क्या जानेंगी ?
मन की बात मानती आयीं,
मन की ही मानेंगी।

निर्गुण निपट निरीह आप हम,
सभी रूप गुण भागे'
निराकार ही निराकार है
आज हमारे आगे;
राधा के अनुरूप जोग की
कोई जुगत जुगाते;
उद्धव, हाय! राज-हंसी को
तुम हीरे न चुगाते।

क्या समझाते हो तुम हमको,
वह अरूप है, ओहो!
गोचारी, गोपाल हमारा,
रहे अगोचर, जो हो!

हमें मोह ही सही, किन्तु वह
उसी मनोमोहन का;
काम, किन्तु वह उसी श्याम का,
लोभ उसी जन-धन का।

ज्ञान-योग लेकर सुषुप्ति ही
तुम न सिखाने आये;
जागृत को समाधि-निद्रा का
स्वप्न दिखाने आये?
नाम-मात्र का ब्रह्म तुम्हारा,
रहे तुम्हें फलदायक;
उद्धव, नहीं निरीह हमारा,
नटवर, नागर, नायक।

निज विराट को छोड़, सूक्ष्म से
कौन यहाँ सिर मारे?
धार सके उसको जो जितना,
जी भर-भर कर धारे;
वे अघ-वक सब कहाँ गये अब?
अरे एक तो आवे!
देखें हमको छोड़ हमारा
छली कहाँ फिर जावे?

अन्तवन्त, हम हन्त ! कहाँ से
वह अनन्तता लावें ?
इस मृण्मय में ही निज चिन्मय
पावें, तो हम पावें ;
सिमिट एक सीमा में, मानो
अपने में न समाता;
मिला हमें ऐसे वह जैसे
जोड़ हमीं से नाता।

क्या बतलावें, वह वंशीधर
कैसा आया हम में ?
ताल न आया होगा ऐसा
कभी किसी की सम में ;
जीवन में यौवन-सा आया,
यौवन में मधु-मद-सा,
उस मद में भी, छोड़ परम पद,
आया वह गद्गद-सा !

वृन्दावन में नव मधु आया,
मधु में मन्मथ आया;
उसमें तन, तन में मन, मन में
एक मनोरथ आया।

उसमें आकर्षण, हाँ, राधा
आकर्षण में आयी;
राधा में माधव, माधव में
राधा - मूर्त्ति समायी!

यही सृष्टि की तथा प्रलय की
उद्धव! कथा हमारी;
पर कितना आनन्द हमारा!
कितनी व्यथा हमारी!
कहो, इसे हम किसे जनावें,
कौन, कहाँ जानेगा?
कौन भूल कर आप आपको,
पर को पहचानेगा?

नयी अरुणिमा जगी अनल में,
नवलोज्वलता जल में,
नभ में नव्य नीलिमा, नूतन
हरियाली भूतल में;
नया रंग आया समीर में,
नया गन्ध-गुण छाया;
प्राण-तुल्य पाँचों तत्वों में
वह पीताम्बर आया।

कोटि कमल फूटे, कमलों पर
आ-आ कर अलि टूटे;
चित्र पतंग विचित्र पटों की
प्रतिकृति लेने छूटे;
पात-पात में फूल और थे
डाल-डाल में भूले;
वन की रँग-रलियों में हम सब
घर की गलियाँ भूले!

नयी तरंगें थीं यमुना में,
नयी उमंगें ब्रज में;
तीन लोक-से दीख रहे थे
लोट-पोट इस रज में;
ऊपर घटा घिरी थी, नीचे
पुलक कदम्ब खिले थे;
झूम-झूम रस की रिम-झिम में
दोनों हिले-मिले थे।

मद का कहो, अँधेरा-सा ही
आया श्याम सही था;
राधा का छिप गया सभी कुछ,
वह थी और वही था!

किन्तु गया उजियाले-सा वह,
उलटा हुआ यहाँ है;
देश-काल सब अड़े खड़े हैं
राधा किन्तु कहाँ है?

आँख-मिचौनी में वह भागा,
हमने पकड़ न पाया;
देर हुई तो चातक तक ने
रह - रह रोर मचाया;
हँसा किन्तु भेदी पिक हा! हा!
हू! हू! कर इतराया;
तब केकी ने नाच निकट ही
कृपया पता बताया!

उद्धव! वे दिन भूलेंगे क्या,
तुम्हीं बता दो, कैसे?
संकट भी जब हुए हमारे
क्रीड़ा - कौतुक जैसे!

(द्वापर से)

श्री मैथिलीशरण गुप्त के ग्रन्थ

काव्य-ग्रन्थ—रंग में भंग, जयद्रथ वध, भारत भारती, शकुन्तला, किसान, पत्रावली, वैतालिक, स्वदेश, संगीत, पंचवटी, हिन्दू, त्रिपथगा, गुरुकुल, शक्ति, वन-वैभव, साकेत, द्वापर, सिद्धराज, विकट भट, झंकार, यशोधरा, मंगल घट।

नाटक— तिलोत्तमा, चन्द्रहास, अनघ।

अनुवाद—मेघनाद वध, वीरांगना, विरहिणी-व्रजांगना, पलासी का युद्ध, उमरख़ैयाम।

श्री अयोध्या सिंह उपाध्याय
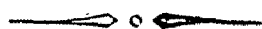
श्री उपाध्याय जी आधुनिक काल के सबसे पुराने कवि हैं। गत वर्ष, सम्वत् १६६५ में उन्हें प्रिय-प्रवास ग्रन्थ पर मंगलाप्रसाद पारितोषिक प्रदान किया गया था। उपाध्याय जी ने द्विवेदी काल में ही अपनी प्रतिभा का पूर्ण परिचय दे दिया था। इनका 'प्रिय-प्रवास' ग्रन्थ तो युग-प्रवर्त्तक ग्रन्थ ही कहा जा सकता है। यह खड़ी बोली में प्रथम अतुकान्त महाकाव्य है। इससे इनके काव्य-ज्ञान तथा भाषा का पूर्ण परिचय मिलता है। 'प्रिय-प्रवास' की विस्तृत भूमिका में इन्होंने अपने काव्य-सिद्धान्त के विषय में अच्छी विवेचना की है। 'प्रिय-प्रवास, की विशेषता भाव-सौन्दर्य और चरित्र-चित्रण में है।

जहाँ उपाध्याय जी ने 'प्रियप्रवास' में अपनी परिष्कृत और संस्कृत शैली का परिचय दिया है, वहाँ उन्होंने 'बोलचाल', 'चुभते चौपदे' और 'चोखे चौपदे' में अपनी सरल, स्वाभाविक और बोलचाल की मुहावरेदार भाषा में काव्य-रचना की है। जीवन की अनेक प्रवृत्तियों का निरूपण, सरल भाषा में इनकी इस प्रकार की कविताओं में अच्छी तरह किया गया है। यद्यपि कविता में कहीं-कहीं मुहावरों के प्रयोग से भावों के चित्रण पर आघात पहुँचा है, तथापि भाषा की स्वाभाविकता अक्षुण्ण है।

द्विवेदी काल में ब्रजभाषा का भी साहित्य में अच्छा प्रयोग हुआ। उपाध्याय जी ने उस प्रवृत्ति का परिचय अपने 'रस कलश' नामक ग्रन्थ में दिया है। इस ग्रन्थ में शृंगार रस की विशेष अच्छी कविता है और

व्रजभाषा के साहचर्य से तो शृंगार रस में और भी अधिक माधुर्य आ गया है।

कविता के सिवाय उपाध्याय जी ने गद्य रचनाएँ भी की हैं। इनसे पहले इन्शा की 'रानी केतकी की कहानी' ठेठ हिन्दी में पहली और अन्तिम कहानी थी। उपाध्याय जी ने 'ठेठ हिन्दी का ठाट' और 'अधखिला फूल' लिखकर इन्शा के आदर्शों में और भी वृद्धि की। 'ठेठ हिन्दी' का गद्य इन दोनों पुस्तकों में बहुत अच्छी तरह से प्रयुक्त किया गया है। 'ठेठ हिन्दी का ठाट' या 'देवबाला' में तो भाषा के साथ-साथ कथा का भी अच्छा निर्वाह किया गया है।

उपाध्याय जी हमारी कविता के आचार्य हैं। अभी आरा की नागरी-प्रचारिणी सभा ने उनकी ७० वीं वर्ष-गाँठ पर उन्हें अभिनन्दन-ग्रन्थ भेंट किया था।

प्रिय-प्रवास

आयी वेला हरि-गमन की छा गयी खिन्नता-सी,
थोड़े ऊँचे नलिनपति जा छिपे पादपों में;
आगे सारे स्वजन करके, साथ अक्रूर को ले,
धीरे-धीरे स-जनक कढ़े सद्म में से मुरारी।

आते आँसू अति कठिनता साथ रोके दृगों के,
होती खिन्ना हृदय-तल के सैकड़ों संशयों से;
नाना वामा परम दुखिता, संग शोकाभिभूता,
पीछे प्यारे तनय, निकलीं गेह में से यशोदा।

द्वारे आया व्रज-नृपति को देख यात्रा लिये ही,
भोला भोला निरख मुखड़ा फूल से लाड़िलों का;
खिन्ना दीना परम लख के नन्द की भामिनी को,
चिन्ता-डूबी सकल जनता, हो उठी कम्पमाना।

कोई रोया, नहिँ जल रुका लाख रोके दृगों का,
कोई आहें सदुख भरता, हो गया वावला-सा,
कोई बोला, 'सकल व्रज के जीवनाधार प्यारे,
यों लोगों को व्यथित करके आज जाते कहाँ हो ?'

रोता, होता विकल अति ही एक आभीर बूढ़ा,
दीनों के से वचन कहता पास अक्रूर आया;
बोला—"कोई जतन जन को आप ऐसा बतावें,
मेरे प्यारे कुँवर मुझ से आज न्यारे न होवें।"

"मै बूढ़ा हूँ यदि कुछ कृपा आप चाहें दिखाना,
तो मेरी है विनय इतनी श्याम को छोड़ जावें;
हा! हा! सारी ब्रज-अवनि का प्राण है लाल मेरा,
क्यों जीयेंगे हम सब उसे आप ले जायँगे जो?"

"रत्नों की है नहिं कुछ कमी आप लें रत्न ढेरों,
सोना-चाँदी सहित धन भी गाड़ियों आप ले लें;
गायें ले लें, गज तुरग भी आप ले लें अनेकों,
लेवें मेरे न निजधन को जोड़ता हाथ मैं हूँ।"

"जो है प्यारी धरनि ब्रज की यामिनी के समाना,
तो तातों के सहित, सिगरे गोप हैं तारकों से;
मेरा प्यारा कुँवर उसका एक ही चन्द्रमा है,
छा जावेगा तिमिर, वह जो दूर होगा दृगों से।"

"सच्चा प्यारा सकल ब्रज का, वंश का है उजाला,
दीनों का है परमधन, औ वृद्ध का नेत्र-तारा;
बालाओं का प्रिय स्वजन, औ बन्धु है बालकों का,
ले जाते हैं सु-रतन कहाँ, आप ऐसा हमारा?"

बूढ़े के ये वचन सुनके नेत्र में नीर आया,
आँसू रोके परम मृदुता साथ अक्रूर बोले—
"क्यों होते हैं दुखित इतने मानिये बात मेरी,
आ जावेंगे विवि दिवस में आप के लाल दोनों।"

आयी प्यारे निकट श्रम से एक वृद्धा-प्रवीणा,
हाथों से छू कमल-मुख को प्यार से लीं बलायें;
पीछे बोली दुखित स्वर से, "तू कहीं जा न बेटा,
तेरी माता अहह कितनी बावली हो रही है!"

"जो रूठेगा नृपति, ब्रज का वास ही छोड़ दूँगी,
ऊँचे-ऊँचे भवन तज के जंगलों में बसूँगी;
खाऊँगी फूल-फल-दल को व्यंजनों को तजूँगी,
मैं आँखों से अलग न तुझे लाल मेरे करूँगी।"

"जाओगे क्या कुँवर मथुरा? कंस का क्या ठिकाना?
मेरा जी है बहुत डरता, क्या न जाने करेगा?
मानूँगी मैं न, सुरपति का राज ले क्या करूँगी?
तेरा प्यारा बदन लख के, स्वर्ग को मैं तजूँगी।

"जो लेवेगा नृपति मुझसे दंड दूँगी करोड़ों,
लोटा-थाली सहित तन के वस्त्र भी बेच दूँगी;
जो माँगेगा हृदय वह तो, काढ़ दूँगी उसे भी,
बेटा! तेरा गमन मथुरा, मैं न आँखों लखूँगी।"

"कोई भी है न सुन सकता, जा किसे मैं सुनाऊँ ?
मैं हूँ, मेरा हृदय-तल है, औ व्यथा हैं अनेकों,
बेटा! तेरा सरल मुखड़ा शान्ति देता मुझे है,
क्यों जीऊँगी कुँवर! बतला जो चला जायगा तू ?"

"प्यारे तेरा गमन सुन के, दूसरे रो रहे हैं,
मैं रोती हूँ, सकल व्रज है वारि लाता दृगों में;
सोचो बेटा! उस जननि की क्या दशा आज होगी ?
तेरा जैसा सरल जिसका एक ही लाड़िला है।"

प्राचीना की सदुख सुन के, बात सारी मुरारी,
दोनों आँखें सजल करके प्यार के साथ बोले—
"मैं आऊँगा कुछ दिन गये बाल होगा न बाँका,
क्यों माता तू विकल इतना आज यों हो रही है ?"

दौड़ा ग्वाला व्रज-नृपति के सामने एक आया,
बोला, "गायें सकल वन को आपकी हैं न जातीं;
दाँतों से हैं न तृण गहती, हैं न बच्चे पिलातीं,
हा! हा! मेरी सुरभि, सब को आज क्या हो गया है ?"

"देखो! देखो! सकल हरि की ओर ही आ रही हैं,
रोके भी हैं न रुकतीं, बावली हो गयी हैं;"
यों ही बातें सदुख कहके फूट के ग्वाल रोया,
बोला, "मेरे कुँवर सब को यों रुला के न जाओ।"

रोता ही था अहिर, तब लौं नन्द की सर्व गायें,
दौड़ी आयीं निकट हरि के पूँछ ऊँची उठायें;
खिन्ना, दीना, विपुल, वह थीं, बारि था नेत्र लाता,
ऊँची आँखों कमल-मुख थीं देखतीं, शंकिता हो।

काकातूआ महर-गृह के द्वार का भी दुखी था,
भूला जाता सकल स्वर था, उन्मना हो रहा था,
चिल्लाता था, अति विकल था औ यही बोलता था.
"यों लोगों को व्यथित करके लाल जाते कहाँ हो ?"

पंछी की औ सुरभि सब की, देख ऐसी दशाएँ,
थोड़ी जो थी, अहह ! वह भी, धीरता दूर भागी ;
हा ! हा ! शब्दों सहित इतना फूट के लोग रोये,
हो जाती थी निरख जिसको भग्न छाती शिला की।

आवेगों के सहित बढ़ते देख सन्ताप नाना,
धीरे-धीरे व्रज-नृपति से खिन्न अक्रूर बोले—
"देखी जाती नहिं व्रज-व्यथा, शोक है वृद्धि पाता,
आज्ञा दीजे, जननि पग छू, यान पै श्याम बैठें।"

आज्ञा पा के निज जनक की, मान अक्रूर बातें,
जेठे भ्राता सहित; जननी पास गोपाल आये;
छू माता के कमल पग को, धीरता साथ बोले,
"जो आज्ञा हो जननि अब, तो यान पै बैठ जाऊँ।"

दोनों प्यारे कुँवर-वर के यों विदा माँगते ही,
रोके आँसू जननि दृग में, एक ही साथ आये,
धीरे बोलीं, परम दुख से, "जीवनाधार जाओ,
दोनों भैया, मुख-शशि हमें लौट आके दिखाओ;"

"धीरे-धीरे सु-पवन बहे, स्निग्ध हो अंशुमाली,
प्यारी छाया विटप वितरें, शान्ति फैले वनों में ;
बाधाएँ हों शमन, पथ की दूर हों आपदाएँ,
यात्रा तेरी सफल सुत हो, छेम से सद्म आओ।"

लेके माता-चरण-रज को श्याम औ राम दोनों,
आये विप्रों निकट उनके पाँव की वन्दना की ;
भाई-बन्दों सहित मिल के हाथ जोड़ा बड़ों को,
पीछे बैठे विशद रथ में, बोध दे के सबों को;

दोनों प्यारे निज कुँवर को, यान पै देख बैठा,
आवेगों से विवश अति ही हो उठीं नन्दरानी ;
आँसू छूवे, युगल दृग से, वारिधारा बहा के,
बोलीं दीना सदृश वह यों, दग्ध हो-हो पती से—

"अहह ! दिवस ऐसा हाय ! क्यों आज आया ?
निज प्रिय सुत से जो मैं जुदा हो रही हूँ;
अगणित गुणवाली प्राण से नाथ प्यारी,
यह अनुपम थाती मैं तुम्हें सौंपती हूँ।"

"सब पथ कठिनाई नाथ हैं जानते ही,
नहिं कुँवर कहीं भी आज लौं हैं सिधारे;
मधुर फल खिलाना, दृश्य नाना दिखाना
कुछ पथ-दुख मेरे बालकों को न होवे;"

"खर पवन सतावे लाड़िलों को न मेरे,
दिनकर-किरणों की ताप से भी बचाना;
यदि उचित जँचे तो छाँह में भी बिठाना;
मुख-सरसिज ऐसा म्लान होने न पावे;"

"विमल जल मँगाना, देख प्यासा, पिलाना,
कुछ क्षुधित हुए ही, व्यंजनों को खिलाना;
दिन बदन सुतों का देखते ही बिताना,
प्रफुलित अधरों को सूखने भी न देना;"

"युग तुरग सजीले वायु से वेग वाले,
अति अधिक न दौड़ें यान धीरे चलाना;
बहु हिल कर हा! हा! कष्ट कोई न देवे;
परम मृदुल मेरे बालकों का कलेजा;"

"सकल नगर में ही बाम ऐसी मिलेंगी,
सब नहिं जिनकी हैं बामता बूझ पाते;
सकल समय ऐसी साँपिनों से बचाना,
वह निकट हमारे लाड़िलों के न आवें;"

"जब नगर दिखाने के लिए नाथ जाना,
निज सरल कुमारों को खलों से बचाना ;
सँग-सँग रखना और साथ ही गेह लाना,
छन सुअन दृगों से दूर होने न पावें ;"

"धनुष मख सभा में देख मेरे सुतों को,
तनक भृकुटि टेढ़ी नाथ जो कंस की हो ,
अवसर लख ऐसे यत्न तो सोच लेना,
न कुपित नृप होवें, औ बचें लाल मेरे।"

"यदि विधिवश सोचा भूप ने और ही हो,
यह विनय बड़ी ही दीनता से सुनाना—
हम बस न सकेंगे, जो हुई दृष्टि मैली,
युग सुअन यही हैं जीवनाधार मेरे।"

"लख कर मुख सूखा, सूखता है कलेजा,
उर बिच बलती है आग देखे दुखों के ;
शिर पर सुत के जो आपदा नाथ आयी,
यह अवनि फटेगी औ समा जाऊँगी मैं ;"

"जग कर कितनी ही रात मैंने बितायी,
यदि तनक कुमारों को हुई बेकली थी ;
यह हृदय हमारा भग्न कैसे न होगा ?
यदि कुछ दुख होगा बालकों को हमारे।"

"बहु निशि नहिं मैंने शीत को शीत जाना,
थर-थर कँपती थी औ लिये अंक में थी ;
यदि सुखित न यों भी देखती लाल को थी,
सब रजनि खड़े औ घूमते थी बिताती।"

"निज सुख अपने, मैं ध्यान में भी न लायी,
प्रिय सुत सुख ही से मैं सुखी आज लौं हूँ ;
मुख तक कुम्हलाया नाथ मैंने न देखा,
अहह ! दुखित कैसे लाड़िले को लखूँगी ?"

"यह समझ रही हूँ, और हूँ जानती ही,
हृदय-धन तुम्हारा भी यही लाड़िला है ;
पर विवश हुई हूँ जी नहीं मानता है,
यह विनय इसी से नाथ मैंने सुनायी।"

"अब अधिक नहीं मैं भाखना चाहती हूँ,
अनुचित मुझसे है नाथ होता बड़ा ही,
निज युग कर जोड़े ईश से हूँ मनाती,
सकुशल गृह लौटें आप ले लाड़िलों को।"

[प्रिय प्रवास से]

———

आँख

पाँवड़े कैसे न पलकों के पड़े ?
जोत के सारे सहारे हो तुम्हीं ;
आँख में, बस आँख में, हो घूमते;
आँख के तारे हमारे हो तुम्हीं ।

देखने वाली न आँखें हों मगर,
देखने को है उन्हें चसका बड़ा ;
आप परदा किसलिए हैं कर रहे ?
हो भले ही आँख पर परदा पड़ा ।

जान कर भी जानते जिसको नहीं;
क्यों उसी के जानने का दम भरें ?
आपही क्यों आँख अपनी ले कुचो ?
क्यों किसी की आँख में उँगली करें ?

देख कर, आँख देख ले जिनको,
वे बनाये गये नहीं वैसे ;
आँख में जो ठहर नहीं सकता,
आँख उस पर ठहर सके कैसे ?

राह पर साथ राहियों के चल,
साहबी आँख से उसे देखें ;
आँख की साख जो कहाती है,
हम उसी आँख से उसे देखें ।

जोत न्यारी तो नहीं दिखला पड़ी,
आँख में क्यों ज्ञान के दीये बले ?
आँख में अंजन अनूठा ले लगा,
हम जमायें आँख या आँखें मलें।

है जहाँ में कहाँ न जादूगर ?
पर दिखाया न, देखते ही हो;
भूल जादूगरी गयी सारी,
आँख जादू भरी भले ही हो।

है जहाँ आँख पड़ नहीं सकती,
आँख मेरी वहाँ न पायी जम;
जग पसारा न लख सके सारा,
आँख हमने नहीं पसारा कम।

[बोलचाल से]

बेचारा बाप

भाग पलटे पलट गया वह भी,
बा-समझ औ बहुत भला जो था;
आज वह सामना लगा करने,
आँख के सामने पला जो था।

प्यार का प्याला पिला पाला जिसे,
हाथ से उसके बहुत से दुख सहे;
कर रहा है छेद छाती में वही,
हम जिसे छाती तले रखते रहे।

मानते जिसको बहुत ही हम रहे,
मानता है क्या न वह मेरा कहा ?
किस लिए वह मूँग छाती पर दले ?
जो सदा छाती तले मेरी रहा।

क्यों वही है आँख का काँटा हुआ,
आँख जिसको देख सुख पाती रही ?
जी हमारा क्यों जलाता है वही,
पा जिसे छाती जुड़ा जाती रही ?

बावला हो जाय जी कैसे नहीं !
आँख से कैसे न जल धारा बहे !
है कलेजे में छुरी वह मारता !
हम कलेजे में जिसे रखते रहे !

फूल से हम जिसे न मार सके,
है वही आज भोंकता भाला;
आह ! है खा रहा कलेजा वह,
है कलेजा खिला जिसे पाला।

क्यों कलेजा न प्यार का दहले ?
ले कलेजा पकड़ न क्यों नेकी ?
बाप के मोम से कलेजे को,
दे कुचल कोर जो कलेजे की।

किरकिरी वह आँख की जाये न बन,
जो हमारी आँख का तारा रहा;
कर न दे टुकड़े कलेजे के वही,
है जिसे टुकड़ा कलेजे का कहा।

सुख अगर दे हमें नहीं सकता,
तो रखे लाज दुख अँगेजे को;
वह फिरे देखता न कोर कसर,
कोर है जो मेरे कलेजे की।

दूसरा क्या सपूत करता है,
किस तरह मुँह न मोड़ लेवे वह ?
पीठ पर ही उसे फिरे लादे,
पीठ कैसे न तोड़ देवे वह ?

[चोखे चौपदे से]

समय का फेर

धन विभव की बात क्या जिनके बड़े,
रज बराबर थे समझते राज को;
है तरस आता उन्हीं के लाड़ले,
हैं तरसते एक मूठी नाज को !

क्या दिनों का फेर हम इसको कहें ?
या कि है दिखला रही रंगत विपत ?
थी कभी हमसे नहीं जिनकी चली,
आज दिन वे ही चलाते हैं चपत।

बेर खा वे बिता रहे हैं दिन,
जो रहे धन-कुबेर कहलाते;
अन्न से घर भरा रहा जिनका,
आज वे पेट भर नहीं पाते !

चाव से चुगते जहाँ मोती रहे
हंस, तज कर मानसर आये हुए;
पोच दुख से आज वाँ के जन पचक,
फिर रहे हैं पेट पचकाये हुए।

जो सुखों की गोदियों के लाल थे,
दिन ब दिन वे हैं दुखों से घिर रहे;
जो रहे अकड़े जगत के सामने,
आज वे हैं पेट पकड़े फिर रहे !

बाँटते जो जहान को, उनको
सुध रही बाट बाँटने ही की;
पाटते जो समुद्र थे उन को,
है पड़ी पेट पाटने ही की !

पेट जिनसे चींटियों तक का पला,
जा सके जिनके नहीं जाचक गिने,
कट रहे हैं पेट का काटे गये,
लट रहे हैं कौर वे मुँह का छिने !

दूध पीने को उन्हें मिलता नहीं,
जो सहित परिवार पीते घी रहे ;
अब किसी का पेट भर पाता नहीं,
लोग आधा पेट खा, हैं जी रहे।

पेट भर, अब अन्न मिलता है कहाँ ?
हैं कहाँ अब डालियाँ फल से लदी ?
बह रहा है सोत दुख का अब वहाँ,
थी जहाँ घी दूध की बहती नदी।

छिन गया आज कौर मुँह का है,
गाय देती न दूध है दूहे ;
है बुरा हाल भूख से मेरा,
पेट में कूद हैं रहे चूहे।

बात बिगड़े नहीं किसी की यों,
मरतबा यों न हो किसी का कम,
पाँव मेरे जहान पड़ता था,
दुख पड़े पाँव पड़ रहे हैं हम।

आज वे हैं जान के गाहक बने,
मुँह हमारा देख जो जीते रहे ;
हाथ धो वे आज़ पीछे हैं पड़े,
जो हमारा पाँव धो पीते रहे।

छू जिन्हें मैल दूर होता था,
आज वे हो गये बहुत मैले;
वे नहीं आज फैलते घर में,
पाँव जो थे जहान में फैले!

बेतरह क्यों न दिल रहे मलता,
दुख दुखी चित्त किस तरह हो काम?
लोटते पाँव के तले जो थे,
पाँव उनका पलोटते हैं हम?

गालियाँ हैं आज उनको मिल रहीं,
गीत जिनका देवता थे गा रहे;
पाँव जिनके प्रेम से पुजते रहे,
पाँव की वे ठोकरें हैं खा रहे!

अब वहाँ छल की, कपट की, फूट की,
नटखटी की, है रही फहरा धुजा,
पापियों का पाप मन का मैल धो,
है जहाँ पर पाँव का धोअन पुजा!

आज वे पाले दुखों के हैं पड़े,
जो सदा सुख-पालने में ही पले;
सेज पर जो फूल की थे लेटते,
वे रहे हैं लेट तलवों के तले!

[चुभते चौपदे से]

———

भाव-भक्ति

पादप के पत्ते हैं प्रताप के पताके हरे,
क्यारियाँ सुमन की सुमनता सँवारी हैं;
तेरे अनुराग राग ही से रंजिता है उषा,
नाना रवि तेरे तेज ही से तेजधारी हैं ;
हरिऔध तेरे रंग ही में रजनी है रँगी,
विधु की कलाएँ कर कंज की सुधारी हैं,
महा प्रभावान पूत नख की प्रभा से लसे,
सारे नभ तारे तेरे पग के पुजारी हैं।

सेमल को लाल-लाल सुमन मिले हैं कहाँ ?
पीले-पीले पुष्प दिये किसने बबूलों को ?
तुली तूलिकाएँ ले-ले कैसे साजता है कौन,
सुललित लतिका के कलित दुकूलों को ?
हरिऔध किसके खिलाये कलिकाएँ खिलीं,
दे-दे दान मंजुल मरन्द अनुकूलों को,
किससे रँगीली साड़ियाँ हैं तितली को मिली,
कौन रँगरेज रँगता है इन फूलों को ?

किसके करों से है धवलिमा निराली मिली,
किसके धुलाये हैं धवल फूल धुलते ?
किसके कहे से ओस-बिन्दु सुमनावली के,
मोह कर मानस हैं मोतियों से तुलते ?

हरिऔध किसके सहारे से समीर द्वारा,
मंजुल मही में है मरन्द भार ढुलते ;
किसके लुभाने के बहाने मनमाने कर,
रात में खजाने रत्न राजि के हैं खुलते ?

झर-झर झरने, उछाल वारि विन्दुओं को,
अंक किसका हैं मंजु मोतियों से भरते ?
पादप के पत्ते हिल-मिल हैं रिझाते किसे,
खिल खिल फूल क्यों सुगन्ध हैं वितरते ?

हरिऔध किसी ने न इसका वताया भेद,
सकल फवीले फल क्यों हैं मन हरते ?
बजते बधावे क्यों उमंग भरे भृंग के हैं,
क्यों हैं रंग-रंग के विहंग गान करते ?

कामना-कलित-कलिका को है खिलाता कौन,
मधु है मिलाता कौन मानस हिलोरे में ?
कौन है विलसता सरस वासना के मध्य,
रस भरता है कौन प्रमद कमोरे में ?

हरिऔध लालायित होती हैं ललक काहें,
कौन लासता है लोक लालसा के कोरे में ?
कौन लाभ हुआ लोने-लोने लोचनों के मिले,
जो न लाली लाल की दिखायी लाल डोरे में ?

लगन लगे भी लालसाएँ जो ललाती रहीं,
कैसे तो न लोक लाल लोलुपों को टोकेंगे ?
वसुधा विकासिनी विभूति विरहित जन,
सुधा को प्रवाह कैसे मानस में रोकेंगे ?
हरिऔध कैसे कान्त कामना विहीन कर,
मनु जात जीवन महान फल लोकेंगे ?
जो न बने मानस मुकुर मल मोचन, तो
कैसे लोक लोचन को लोचन विलोकेंगे ?

किस लोक मंजु की, महान मंजुता से रीझ,
महँक रही है वायु महँक अधिक ले,
किस मधु सिन्धु को सुनाता है मधुप गान ?
अति कमनीय तान मधुप रसिक ले ?
हरिऔध कूक-कूक किसे है बनाता मुग्ध,
रुचिर रसाल मंजरी का रस पिक ले ?
किसे अवलोके फूल खिलते अघाते नहीं,
किसके विलोके कुन्द के हैं दाँत निकले ?

जिसकी पुनीत भावना में उर लीन रहे,
क्या न वह भाव भरी मुरली बजायेंगे ?
क्या न रोम-रोम में भरेंगे तमहारी तेज,
क्या न भीत जन को अभीत कर पायेंगे ?

हरिऔध जिसकी सजीवता सजीवन है,
लोग जाग जिससे जगत को जगायेँगे,
क्या न वह गान फिर गायेँगे कृपानिधान,
क्या न वह मंजु तान कान को सुनायेँगे ?

किसे लाभकर महि महिमामयी है हुई,
किसकी पुनीत केलि कीर्ति कलमी सी है ?
मानवता किसकी महान मति से है लसी,
दानवता किस के पदों से गयी पीसी है ?

हरिऔध ऐसी पति देवता कहाँ है मिली,
किसकी प्रतीति प्रीति प्रगति सती-सी है ?
कौन पाप पीन जन पातक निकन्दिनी है,
कौन जग वन्दिनी जनक नन्दिनी सी है ?

[कल्पलता से]

——

श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय के ग्रन्थ

पद्य— प्रेमाम्बुवारिधि, प्रेमाम्बुप्रवाह, प्रेमाम्बु प्रस्रवण, प्रेमप्रपंच, प्रेम पुष्पोपहार, काव्योपवन, ऋतु मुकुर।
प्रिय प्रवास, चुभते चौपदे, चोखे चौपदे, कल्पलता, बोल-चाल, पद्य प्रसून, रस कलश।

गद्य— ठेठ हिन्दी का ठाट, अधखिला फूल

अनूदित—वेनिस का बाँका।

संग्रह— सरस संग्रह, कबीर वचनावली

श्री रामनरेश त्रिपाठी

श्री रामनरेश त्रिपाठी का व्यक्तित्व क्या है ? एक कवि, आलोचक, नाटककार, उपन्यासकार, टीकाकार, कहानी लेखक, अनुवादक और संपादक ।

द्विवेदी युग के प्रमुख साहित्यिकों में श्री रामनरेश त्रिपाठी का विशेष स्थान है, क्योंकि द्विवेदी जी की भाँति त्रिपाठी जी का भी ध्यान कविता के अतिरिक्त साहित्य के अनेक अंगों पर गया और उन्होंने व्याकरण-सम्मत गद्य और पद्य के मार्ग को परिष्कृत कर प्रशस्त किया। उन्होंने कविता, कहानी, नाटक, उपन्यास और समालोचना आदि अंगों पर समान रूप से रचनाएँ करते हुए अनुवाद, सम्पादन और संग्रह-कार्य भी किया। साथ ही साथ उन्होंने स्त्री-साहित्य और बाल-साहित्य के लिए भी अपनी प्रतिभा का प्रयोग किया। अभी रामचरित मानस की एक टीका लिखने का गौरव भी त्रिपाठी जी ने प्राप्त किया है। अतः साहित्य के जितने अंगों पर त्रिपाठी जी ने रचना की है, उतने अंगों पर हिन्दी-साहित्य के किसी लेखक की लेखनी ने काम नहीं किया। इस क्षेत्र में त्रिपाठी जी अद्वितीय हैं।

कविता के क्षेत्र में वे राष्ट्रीय हैं। मिलन, पथिक और स्वप्न में स्वदेश-सेवा के ऊँचे आदर्शों का निरूपण है। कथा के पात्र किसी महात्मा से उपदेश सुन कर देश-भक्ति के लिए प्रोत्साहित होते हैं और अन्त में अपने उद्देश्य की प्राप्ति करते हैं। यह देश की नवीन जागृति का ही परिणाम है कि त्रिपाठी जी देश-सेवा के लिए आत्मोत्सर्ग का आदर्श रखते हैं। प्रत्येक परिस्थिति में एक-सा आदर्श होने से विविध पात्रों की मनोवैज्ञानिक विवेचना में संकीर्णता अवश्य आ गयी है, परन्तु कथा के मनोरंजन में कोई बाधा नहीं पड़ी है।

त्रिपाठी जी की कविता सरल, स्पष्ट और व्याकरण के आदेशानुसार है। क्रिया रूप कभी छूटने नहीं पाये हैं और इसीलिए उनके भाव सदैव स्पष्ट पाये जाते हैं। उनका कविता-संग्रह 'मानसी' भाव-चित्रों से पूर्ण है, और उसमें कल्पना का भी विशेष भाग है। "मेरे करुणानिधि का आसन गरम होगा, कौन जाने कब मेरे शीतल उछ्वास से" में कवि का व्यथित हृदय है।

त्रिपाठी जी प्रबन्ध अच्छा लिख सकते हैं। जहाँ कविता के क्षेत्र में प्रबन्धात्मकता सफल हुई है, वहाँ कहानियों, उपन्यासों और नाटकों के निर्माण में भी त्रिपाठी जी को कथा-वस्तु की सफलता प्राप्त हुई है। त्रिपाठी जी की कथा-वस्तु मनोरंजक और कौतूहलपूर्ण है। 'स्वप्नचित्र' में तो त्रिपाठी जी एक विनोदी भी हो गये हैं। त्रिपाठी जी के नाटक—जयन्त और प्रेमलोक—आदर्श की दृष्टि से अच्छे नाटक हैं। रंगमंच पर उनका अभिनय होना चाहिए।

कविता कौमुदी के पाँच भाग, ग्रामगीत का संकलन, हिन्दुस्तानी

कोष और मानस की टीका त्रिपाठी जी के अध्यवसाय पर प्रकाश डालने के लिए काफ़ी हैं। 'तुलसीदास और उनकी कविता' में लेखक ने भक्त और विवेचक के विभिन्न व्यक्तित्व को एक करने की क्षमता प्रदर्शित की है।

एक ओर जहाँ श्री रामनरेश त्रिपाठी ने कवि और समालोचक बन कर साहित्य की अनुभूति और विवेचना की है, वहाँ दूसरी ओर उन्होंने हमारे बालकों के सामने मीठी और गुपचुप कहानियाँ कह कर उनका मनोरंजन भी किया है। श्री रामनरेश त्रिपाठी एक विचारक साहित्य-कार हैं और उनके इसी गुण ने उनकी कविता-भावना को घनीभूत होने का अवसर नहीं दिया। वे केवल कवि न होकर सम्पूर्ण साहित्यिक हैं।

पथिक का आत्म-चिन्तन

कुमुद-बन्धु की मुदित कौमुदी भू पर उतर गगन से,
सोयी थी सिकता-समूह पर परम अचिन्तित मन से ;
बैठे हुए शिला पर, तन आगे की ओर झुकाये,
पथिक अचेतन, अचल, एकटक क्षिति पर दृष्टि गड़ाये,

था अति विकल निरीह; जुए में मानों सब कुछ हारे,
पता नहीं था उसे छोड़ मुनि कब चुपचाप सिधारे।
मुनि के सच्चे वचन पथिक के प्रेम-विशुद्ध हृदय में,
सपदि हुए अंकुरित, पल्लवित, पुष्पित, अल्प समय में।

अनुभव करते हुए हृदय में एक अचिन्तित दुख को,
कुछ क्षण बाद उठाया उसने परम विषादित मुख को ;
आँखें विष में बूड़ रही-सी थीं रसहीन, सजल हो,
लम्बी एक उसाँस खींच कर, बोला पथिक विकल हो ,

"हाय! परम कर्त्तव्य भूल कर आ विरमा मैं वन में,
इससे बढ़ कर और भूल क्या होगी इस जीवन में ?"
फिर कर जोड़ कहा उसने—"हे अखिल जगत के स्वामी !
करके दया बना लो अब निज इच्छा का अनुगामी।"

फिर उसने विस्तृत स्वदेश की ओर दृष्टि निज फेरी,
कहा—"अहा ! कैसी सुन्दर है जन्मभूमि यह मेरी !"
भक्ति, प्रेम, श्रद्धा से उसका तन पुलकित हो आया,
रोम-रोम में सेवा-व्रत का परमानन्द समाया ।

फिर बोला—"हे जन्मभूमि ! हे देश ! प्रेमधन मेरे !
मैं यह जीवन-पुष्प चढ़ाता हूँ चरणों पर तेरे ।"
यह कह लगा सोचने मन में कर्म उचित उपयोगी,
'जाने बिना निदान, बिना अनुभव, न सफलता होगी ।'

'एक बार सम्पूर्ण देश का भ्रमण प्रथम मैं करलूँ,
सुख-दुख का सब हेतु समझ कर ध्येय ध्यान में भर लूँ ;
तब मैं करूँ कर्म-पथ निश्चित जो ध्रुव सत्य-विहित हो,
धर्म-नीति के संरक्षण से जीव-मात्र का हित हो ।'

अतः निरन्तर एक वर्ष तक दृढ़ निश्चय कर मन में,
लगा रहा वह प्रान्त-प्रान्त में देश-दशा-दर्शन में ।
उसने देखा—प्रचुर भरा सर्वत्र प्राकृतिक सुख है,
किन्तु देश उससे नितान्त अनभिज्ञ, विरक्त विमुख है ;

छूता हुआ गाँव की सीमा अति निर्मल जल वाला,
बहता है अविराम निरन्तर कलकल स्वर से नाला,
अनति दूर पर हरियाली से लदी खड़ी गिरि माला,
किन्तु नहीं इससे हृदयों में है आनन्द-उजाला ।

कहीं श्याम चट्टान, कहीं दर्पण-सा उज्वल सर है,
कहीं हरे तृण खेत, कहीं गिरि-स्रोत-प्रवाह प्रखर है,
कहीं गगन के खम्भ, नारियल, तार भार सिर धारे,
रस-रसिकों के लिए खड़े ज्यों सुप्त नकार इशारे ;

घेर रही हैं जिसे पल्लवित लता सुगन्धित झाड़ी,
छाया-शयित सघन आच्छादित कुंचित पन्थ पहाड़ी ;
सर्वोपरि उन्नत मन की-सी लक्षित अचल-उंचाई,
एक घड़ी को भी न किसी के लिए हुई सुखदाई ;

ऊँचे से झरने झरते हैं, शीतल धार धवल है,
यहाँ परम सुख शान्ति समन्वित नित आनन्द अटल है ;
कहीं धार के पास शिला पर बैठ लोग क्षण भर को,
पा सकते हैं शान्ति, मिटा सकते हैं जी के ज्वर को ।

बार-बार बक-पंक्ति-गमन से उज्वल फूलों वाली,
मेघ-पुष्प-वर्षा से धूमिल घटा क्षितिज पर काली,
लहराती दृग की सीमा तक धानों की हरियाली,
वारिज-नयन-गगन-छवि दर्शक सर की छटा निराली ।

कदली वन से हरी धरा को देख न आँख अघाती,
क्यों यह नहीं गाँव वालों के जी की जलन मिटाती ?
गेहूँ-चने-मटर-जौ के हैं खेत खड़े लहराते,
क्या कारण है, जो ये मन का कुछ न विषाद मिटाते ?

निम्ब, कदम्ब, अम्ब, इमली की श्याम निरातप छाया,
सेवन कर फिर लोक-शोक की याद न रखती काया;
बैठ बाग की विशद मेंड़ पर कोमल, अमल पवन में,
आँख मूंद करता किसान है श्रम का अनुभव मन में;

कोकिल का आलाप, पपीहे की विरहाकुल बानी,
तोता-मैना का विवाद, बुलबुल की प्रेम-कहानी;
मधुर प्रेम के गीत तरुनियाँ गातीं खेत निरातीं,
क्या ये क्षण भर को न किसी के मन का कष्ट भुलातीं?

विमलोदक पुष्कर में विकसे चित्र-विचित्र कुसुम हैं,
खड़े चतुर्दिक शान्त भाव से लतिकालिंगित द्रुम हैं;
देख सलिल-दर्पण में शोभा वे फूले न समाते,
दे प्रसून उपहार सरोवर को निज हर्ष जनाते।

सुन्दर सर है, लहर मनोरथ-सी उठ कर मिट जाती,
तट पर है कदम्ब की विस्तृत छाया सुखद सुहाती;
लटक रहे हैं धवल सुगन्धित कन्दुक-से फल फूले,
गूँज रहे हैं अलि पीकर मकरन्द मोद में भूले।

वंजुल, मंजुल सदा सुसज्जित मज्जित छदन-विसर से,
अलि-कुल-आकुल बकुल, मुकुल, संकुल, व्याकुल, नभचर से;
आस पास का पथ सुरभित है, महक रही फुलवारी,
बिछी फूल की सेज, बाजती बीणा है सुखकारी।

नालों का संयोग, साँझ का समय, घना जंगल है,
ऊँचे-नीचे खोह कगारे, निर्जन बीहड़ थल है।
रह रह कर सौरभ समीर में हैं वन-पुष्प उड़ाते,
ताप-तप्त जन यहाँ क्यों न आकर क्षण एक जुड़ाते?

सन्ध्या समय चतुर्दिक से बहु हर्ष-निनाद सुनाते,
विविध रूप-रंगों के पक्षी झुंड-झुंड मिल आते;
बैठ पल्लवों पर सब मिल कर गान मनोहर गाते,
अद्भुत वाद्य-यन्त्र पादप को हैं प्रति दिवस बनाते।

प्रातःकाल ममत्वहीन वे कहाँ-कहाँ उड़ जाते,
जग को हैं अनित्य मेले का रोचक पाठ पढ़ाते;
यह सब देख नहीं क्यों मन में उत्तम भाव समाते?
लोग यहाँ पर बैठ घड़ी भर क्यों न सीख कुछ जाते?

अति निस्तब्ध निशीथ, तमावृत मौन प्रकृति-कुल सारा,
शान्त गगन में झिलमिल करते हैं नित नीरव तारा;
निद्रित दिशा, समीर सुकोमल, उदयोन्मुख हिमकर है,
क्या सब शोक भुलाने का यह नहीं एक अवसर है?

चारों ओर तुषार-धवल पर्वत चुपचाप खड़ा है,
प्रकृति-मुकुर सा एक सरोवर उसके मध्य जड़ा है;
तट पर एक शिला सुन्दर है, बैठ यहाँ यदि जाते—
तो क्या एक घड़ी न किसी के दृग, मन, प्राण जुड़ाते?

लीची, श्रीफल, सेव, आम, वादाम, दाख, वेदाना,
रस से भरे विविध मेवों की रुचि-आकृति है नाना;
सब प्रभु की अद्भुत रचना का दृश्य विचित्र दिखाते,
दिव्य अयाचित दया प्राप्त कर क्यों न लोग सुख पाते ?

गिरि, मैदान, नगर, निर्जन में एक भाव में माती,
सरल कुटिल अति तरल मृदुल गति से वहु रूप दिखातीं;
अस्थिर समय समान प्रवाहित ये नदियाँ कुछ गातीं,
चलीं कहाँ से, कहाँ जा रहीं, क्यों आयीं, क्यों जातीं ?

(पथिक से)

स्वगत

अतिशय चपल रजत सम उज्ज्वल
निर्झर-तनया के तट-पथ पर,
युवक वसन्त भाव भारान्वित,
दृग के अर्द्ध कपाट वन्द कर,
विचरण में था निरत एक दिन,
मन्द-मन्द धर चरण-कोकनद,
मानो द्रुम-दल-लसित शैल पर,
चार कान्तिमय नूतन नीरद।

सोच रहा था—भूतल पर यह,
किसकी प्रेम-कथा है चित्रित ?
अम्बर के उर में किस कवि के,
हैं गम्भीर भाव एकत्रित ?
किसकी सुख-निद्रा का मधुमय,
स्वप्न-खंड है विशद विश्व यह ?
जग कितना सुन्दर लगता है,
ललित खिलौनों का सा संग्रह !

बार-बार अंकित करता है, ✓
ऋतुओं में सविता किसकी छवि ?
मोहित होता है मन ही मन,
देख-देख किसकी क्रीड़ा कवि ?
है वह कौन रूप का आकर,
जिसके मुख की कान्ति मनोहर,
देखा करती हैं सागर की
व्यग्र तरंगें उचक-उचक कर ?

घन में किस प्रियतम से चपला
करती है विनोद हँस-हँस कर ?
किसके लिए उषा उठती है
प्रति दिन कर श्रृंगार मनोहर ?

मंजु मोतियों से प्रभात में,
तृण का मरकत सा सुन्दर कर,
भर कर कौन खड़ा करता है,
जिसके स्वागत को प्रतिवासर ?

प्रातः काल समीर कहाँ से,
उपवन में चुपचाप पहुँच कर,
क्या सन्देश सुना जाता है,
घूम-घूम प्रत्येक द्वार पर ?
फूलों के आनन अचरज से,
खुल पड़ते हैं जिसे श्रवण कर,
थामे नहीं हँसी थमती है,
मुह मुँदते ही नहीं जन्म भर ?

मारुत जिसके पास राज-कर
फूलों से परिमल का, लेकर
जाता है प्रति दिवस कहाँ वह
करता है निवास ? राजेश्वर
किसके गान-यन्त्र हैं पत्ती,
नभ, निकुंज, सर में, पर्वत पर,
मधुर गीत गाते रहते हैं,
इधर-उधर विचरण कर दिन भर ?

मैदानों की ओर, घाटियों
के पथ से, अविराम चपल गति
पवन घनों को हाँक रहा है,
पाकर के किस प्रभु की अनुमति ?
ढके हुए हैं गिरि-शिखरों को,
प्रचुर तुहिन पय-फेन-राशि सम ;
शैल देख खिलखिला रहा है,
मानो कोई दृश्य मनोरम।

अति उत्तंग, ऊर्मिमय, फेनिल,
सिन्धु शापवश मानो जम कर,
हिम-पर्वत बन गया यकायक
तृण तरु गुल्म लता हैं जलचर।
किसके चिन्ता-शमन अलौकिक
मधुर गान से कान लगा कर,
ज्ञान भूल कर निज तन का क्यों,
है नीरव निस्तब्ध महीधर ?

सत्पुरुषों के मनोभाव-सा
सरल, विमल, निरलस, कलरवमय,
अपनी ही गति में निमग्न है,
धारागत, उज्वल, फेनिल पय।

पुष्प भार से अवनत पौदों
से सुखप्रद सुवास संचय कर,
आती हैं मारुत की लहरें,
मन्थर गति से मनोव्यथा हर।

ये अति सघन सुपल्लव-शोभित
तरुवर, शीतल छाँह बिछाकर,
सद् गृहस्थ सम अतिथि के लिए,
रहते हैं प्रस्तुत निशि वासर;
खेतों में. वन में, प्रान्तर में,
इतने लाल फूल हैं पुष्पित,
नार लगा करके वन-वन में,
मानों है अनार आनन्दित।

इन्द्र धनुष खेला करता है,
झरनों से हिल मिल कर दिन भर,
तृप्त नहीं होते हैं दृग यह
दृश्य देख अनिमेष अवनि पर;
होता है इस नील झील में,
श्यामा का आगमन सुखद अति,
जल-क्रीड़ा करते हैं तारे,
लहरें लेता है रजनीपति।

हरियाली में भाँति भाँति के
राशि-राशि हैं फूल विमिश्रित ;
गिरि समूह के अन्तराल में
विस्तृत वनस्थली है चित्रित;
भ्रम होता है रंग-बिरंगी
हरित धरा को देख यकायक ;
पुरुष-प्रिया की सूख रही हैं
ये मानो साड़ियाँ असंख्यक।

मैदानों में दूर-दूर तक
कितना आकर्षण है संचित!
नहीं दृष्टि में भर सकता है
इतना है सौन्दर्य संकुलित ;
सन्ध्या आने ही वाली है
कैसा है यह समय मनोहर!
हिम-शिखरों को सजा रहे हैं
सविता स्वर्ण मुकुट पहना कर।

इस विशाल तरुवर चिनार की
अति शीतल छाया सुखदायक,
चरण चूमने को आतुर-सी
पहुँची है गिरि की काया तक ;

हिम शृंगों को छोड़ रही हैं
　　दिनकर की किरनें क्षण-क्षण पर;
तिरती हैं वे घन-नौका पर
　　नभ-सागर में विविध रूप धर।

मुदित, सहस्र-रश्मि ने पकड़ा
　　चिर-सुहागिनी सन्ध्या का कर,
लौट रहा है मानो चेतन
　　जगत अंशुधर को पहुँचा कर;
बच्चों के अनुराग डोर से
　　आकर्षित हो खग पतंग चय,
वेगवन्त हैं नीड़-दिशा में
　　विविध रूप-ध्वनि रंग-ढंग-मय।

ढोरों के पीछे चरवाहे
　　घर की ओर विपिन के पथ पर,
देते हैं सूचना साँझ की
　　मुरली के मधुमय स्वर में भर;
विरह-भार से नत मलाह-गण
　　चले गुणवती नौका लेकर,
कोई गुणवन्ती इनको भी
　　खींच रही है क्या पद-पद पर ?

ये अनुराग भरे धरणीधर,
ग्राम-निकर, ये शान्ति-समन्वित ;
प्रिय की सुधि सी ये सरिताएँ,
ये कानन, कान्तार, सुसज्जित ;
हरित भूमि के मध्य विमल पथ,
पुष्पित लता, प्रसून मनोरम ;
बाट जोहते हैं, सुख लेकर,
घर के बाहर, मूक मित्र सम।

यहाँ नहीं है राग-द्वेष से
हृदय तरंगित होने का भय ;
यहाँ कपट-व्यवहार नहीं है
और नहीं जन-जन पर संशय ;
यहाँ नहीं मन में जगती है
प्रतिहिंसा की वृत्ति भयावह ;
केवल है सौन्दर्य, शान्ति सुख
कैसी है रमणीय जगह यह !

जग को आँखों से ओझल कर,
बरबस मेरी दृष्टि उठा कर,
झिलमिल करते हुए गगन में
तारों के पथ पर पहुँचा कर,

करता है संकेत देखने
को किस का सौन्दर्य मनोरम,
आकर के चुपचाप कहीं से
यह सन्ध्या का तम, अति प्रिय तम ?

हा ! यह फूल किसी दिन अपनी
अनुपम सुन्दरता से गर्वित,
आया था जग में उमंग से
किसी वासना से आकर्षित ;
पर देखा क्या ? क्षण भंगुर सुख
आशा और मृत्यु का संगर,
मुरझ गया होकर हताश अति
सौरभ का निःश्वास छोड़ कर ।

जग क्या है ? किसलिए बना है ?
क्यों है यह इतना आकर्षक ?
कब से हूँ सचेत, पर फिर भी
इसका खुला रहस्य न अब तक ;
मैं जिसके निर्मल प्रकाश में
करता हूँ दिन-रात अतिक्रम,
ज्योति-मूल वह कहाँ प्रकट है ?
बाहर है किसका छाया-तम ?

[स्वप्न से

पश्चात्ताप

सरके कपोल के उजाले में दिवस, रात
केशों के अँधेरे में निकल भागी पास से ;
सन्ध्या बालपन की, युवापन की आधी रात,
मैंने काट डाली क्षण भंगुर विलास से ;
श्वेत केश झलके प्रभात की किरन से तो,
आँखें खुलीं काल के कुटिल मन्द हास से ;
मेरे करुणानिधि का आसन गरम होगा,
कौन जाने कब मेरे शीतल उसास से ?

पुष्प विकास

एक दिन मोहन प्रभात ही पधारे, उन्हें
देख फूल उठे हाथ पाँव उपवन के ;
खोल-खोल द्वार फूल घर से निकल आये,
देख के लुटाये निज कोष सुवरन के ;
वैसी छवि और कहीं, ढूँढ़ने सुगन्ध उड़ी,
पायी न, लजा के रही बाहर भवन के,
मारे अचरज के खुले थे सो खुले ही रहे,
तब से मुँदे न मुख चकित सुमन के।

आकाँक्षा

होते हम हृदय किसी के बिरहाकुल जो,
होते हम आँसू किसी प्रेमी के नयन के ;
पूरे पतझड़ में बसन्त की बयार होते,
होते हम जो कहीं मनोरथ सुजन के ;
दुख-दलितों में हम आशा की किरन होते,
होते पछतावा अविवेकियों के मन के ;
मानते विधाता का बड़ा ही उपकार हम,
होते गाँठ के धन, कहीं जो दीन जन के ।

(मानसी से)

अन्वेषण

मैं ढूँढ़ता तुझे था जब कुंज और वन में ,
तू खोजता मुझे था तब दीन के वतन में ;
तू आह बन किसी की मुझको पुकारता था !
मैं था तुझे बुलाता संगीत में, भजन में ;

मेरे लिए खड़ा था दुखियों के द्वार पर तू ;
मैं बाट जोहता था तेरी किसी चमन में ;
बन कर किसी के आँसू मेरे लिए बहा तू ;
मैं देखता तुझे था माशूक़ के बदन में ;

दुख से रुला-रुलाकर तूने मुझे चिताया,
मैं मस्त हो रहा था तब हाय! अंजुमन में;
बाजे बजा-बजाकर मैं था तुझे रिझाता,
तब तू लगा हुआ था पतितों के संगठन में;

मैं था विरक्त तुझसे जग की अनित्यता पर,
उत्थान भर रहा था तब तू किसी पतन में;
तू बीच में खड़ा था बेबस गिरे हुओं के,
मैं स्वर्ग देखता था, झुकता कहाँ चरन में?

तूने दिये अनेकों अवसर न मिल सका मैं,
तू कर्म में मगन था, मैं व्यस्त था कथन में;
हरिचन्द और ध्रुव ने कुछ और ही बताया,
मैं तो समझ रहा था तेरा प्रताप धन में;

तेरा पता सिकन्दर को मैं समझ रहा था,
पर तू बसा हुआ था फ़रहाद कोहकन में;
क्रीसस की हाय में था करता विनोद तू ही,
तू ही विहँस रहा था महमूद के रुदन में;

प्रह्लाद जानता था तेरा सही ठिकाना,
तूही मचल रहा था मंसूर की रहन में;
आखिर चमक पड़ा था गान्धी की हड्डियों में;
मैं तो समझ रहा था सुहराब पील-तन में।

कैसे तुझे मिलूँगा, जब भेद इस क़दर है ?
हैरान होके भगवन ! आया हूँ मैं सरन में ।

तू रूप है किरन में, सौन्दर्य है सुमन में ;
तू प्राण है पवन में, विस्तार है गगन में ;

तू ज्ञान हिन्दुओं में, ईमान मुसलिमों में ;
विश्वास क्रिश्चियन में, तू सत्य है सुजन में ।

हे दीनबन्धु ! ऐसी प्रतिभा प्रदान कर तू ,
देखूँ तुझे दृगों में, मन में तथा वचन में ;

कठिनाइयों, दुखों का इतिहास ही सुयश है ,
मुझको समर्थ कर तू बस कष्ट के सहन में ,

दुख में न हार मानूँ, सुख में तुझे न भूलूँ ,
ऐसा प्रभाव भर दे, मेरे अधीर मन में ।

[स्फुट

———

श्री रामनरेश त्रिपाठी के ग्रन्थ

कविता— पथिक, मिलन, स्वप्न, मानसी।

नाटक— जयन्त, प्रेमलोक।

उपन्यास— लक्ष्मी, सुभद्रा।

कहानी— तरकस, स्वप्न-चित्र।

अनुवाद— कौन जागता है (नाटक), इतना तो जानो (राजनीति।

सम्पादन— कविता कौमुदी ५ भाग, रामचरितमानस, हिन्दुस्तानी-कोष, घाघ-भड्डरी, ग्राम गीत, भूषण-ग्रन्थावली, हिन्दी-ज्ञानोदय।

संग्रह— सुकवि-कौमुदी, नीति-रत्नमाला, चिन्तामणि।

अन्य— तुलसीदास और उनकी कविता, हिन्दी पद्य-रचना, मारवाड़ के मनोहर गीत।

बाल-साहित्य—बालकथा कहानी, मोहनमाला, बताओ तो जानें, नेता पहेली, गुपचुप कहानियाँ, कविता-विनोद आदि।

श्री गोपालशरण सिंह

श्री गोपालशरणसिंह द्विवेदी युग के प्रधान कवियो में हैं। उन्होंने उस समय से लिखना आरम्भ किया था, जिस समय खड़ी बोली कविता की रूपरेखा निर्धारित हो रही थी। "सिर ऊँचाकर मुख खोलै है। मीठी सी बानी बोलै है" वाली कोकिल का वर्णन करने में नव ब्रजभाषा मिश्रित खड़ी बोली अपने पैरों पर खड़ी होने जा रही थी, उस समय श्री गोपालशरणसिंह ने उसकी उँगली पकड़ कर उसका पथ-प्रदर्शन किया था। द्विवेदी-युग में श्री गोपालशरणसिंह ने जिस प्रकार की काव्य-रचना की थी, उसमें यद्यपि भावों की व्यंजना अत्यन्त तीव्र नहीं थी, तथापि भाषा का स्वरूप उन्होंने स्पष्ट रख दिया था। इस क्षेत्र में उनकी समानता बाबू मैथिलीशरणगुप्त से ही की जा सकती है।

सन् १९२९ में इनकी कविताओं का संग्रह 'माधवी' के नाम से प्रकाशित हुआ था। इसमें भावों के शब्द-चित्र बड़े ही मनोरम हैं। इसमें कवि अधिकतर भक्त के रूप में है और वह श्रीकृष्ण, ब्रज, यमुना आदि पर अपने सरस-हृदय की भाव-धारा प्रवाहित करता है। ये रचनाएँ घनाक्षरी छन्द में हैं। खड़ी बोली में घनाक्षरी छन्द इतने मनोहर रूप में अभी तक नहीं आया। भावना और कल्पना समान रूप से मिलकर कवि के अन्तर्जगत का चित्र खींच देती हैं :—

जाऊँ मैं कहाँ गोपाल शरण तुम्हारी छोड़?

नाम के ही नाते अब मुझे अपनाओ तुम।

कादम्बिनी में कवि प्रकृति-प्रेमी के साथ ही साथ रहस्यवादी भी हो गया है। उसके भावों का प्रदर्शन सांकेतिक भाषा में है। कवि प्रकृति के प्रांगण में विहार कर चाँदनी की छटा देखता और कभी 'उपवन' में पहुँकर आमोद-प्रमोद करता है। वह भाषा के साथ भावों का भी शासक है और कविता उसकी 'नीति' सी हो गयी है, जिसका प्रयोग वह कौशल के साथ करता है।

श्री गोपालशरणसिंह की सामाजिक कविताओं का संग्रह 'मानवी' नाम से प्रकाशित हो गया है। उसका परिचय देते हुए महाराजकुमार डाक्टर रघुवीरसिंह ने लिखा है:—

"कवि के इस काव्य में नारी हृदय की चिरकालीन विश्व-वेदना का स्वर गूँज रहा है।"

स्वयम् कवि ने अपनी मानवी का परिचय इस प्रकार दिया है:—

युग युग के अगणित क्लेशों की
तू है करुण कहानी।

काव्य की अभिव्यंजना के साथ सरलता श्री गोपालशरणसिंह की कविता का विशेष गुण है। षोड़स हिन्दी साहित्य सम्मेलन, वृन्दावन के अखिल भारतीय हिन्दी कवि-सम्मेलन के सभापति के पद से उन्होंने जो भाषण दिया था, उसमें उनके विचार कविता के सम्बन्ध में बहुत स्पष्ट हैं:—

"सरस तो कविता को होना ही चाहिए, किन्तु उसे सरल भी होना चाहिए। रस उसका प्राण है तो सरलता उसका सबसे बड़ा गुण। सरलता के अभाव में सरसता भी मुँह छिपा लेती है।"

नन्दलाल

बोलो श्याम ! गोकुल की तंग गलियों में घूम,
रंग था जमाता कौन बालक अहीर का ?
याद क्या नहीं है तुम्हें प्यारे ग्वाल-बाल संग,
नित्य गेंद खेलना कलिन्दजा के तीर का ?
किसके विरह में बताओ बनता था सिन्धु,
ब्रज-बनिताओं के विलोचन के नीर का ?
चाहे दधि क्षीर का चुराना तुम्हें भूल जाय,
भूल सकता है क्या चुराना कभी चीर का ?

जाना भी तुम्हें था तो भुलाना था हमें न कभी,
क्या नहीं तुम्हें था फिर लौट कर आना भी ?
तुमने सभी से यहाँ प्रीति थी बढ़ायी ख़ूब,
क्या नहीं तुम्हें था फिर उसको निभाना भी ?
तुम हो निठुर सदा हमको खिझाते रहे,
सीख गये अब तो तुम हमें कलपाना भी।
तोड़ोगे कहो, क्या निज नाता ब्रज-वासियों से,
छोड़ोगे भला क्या नन्दलाल कहलाना भी ?

कैसे व्रजवासी भूल जायँ वे तुम्हारे मंजु
मोर-पंख, लकुटी, रुचिर बनमाल को?
मंजुल मराल का जो मान हरती थी सदा,
कैसे भूल जायँ वे तुम्हारी उस चाल को?
तुम्हीं बतलाओ करें कौन वे उपाय, हाय!
किस भाँति तोड़ें वे तुम्हारे प्रेम-जाल को?
व्रज को भले ही भूल जाओ, व्रजचन्द तुम,
कैसे व्रज भूले निज प्यारे नन्दलाल को?

शिशु

धारा प्रेम-सागर की लायी शिशु को है यहाँ,
विधि ने बनाया क्या खिलौना एक न्यारा है?
न्यारा सब जग से है उसका अनूप रूप,
विकसित, कंज के समान अति प्यारा है;
प्यारा वह मंजुता की मूर्ति-सा किसे है नहीं,
व्योम से गिरा हुआ क्या कोई लघु तारा है?
तारा लोक-लोचन का, सबका दुलारा मानो,
माता के सनेह ने सगुण रूप धारा है

छहर रही है एक सुन्दर नवीन छटा,
सुमन-समान-सुकुमार अंग—अंग में ;
आज कुछ और, कल और ही है मंजु छवि,
मानो रँगता है कोई नित्य नये रंग में ;
जानें जिन्हें जानने का दावा रहता है सदा,
शिशु है निमग्न किस भाव की तरंग में ?
सोच-सोच हार गया समझ न पाया कभी,
उछल रहा है वह कौन सी उमंग में ?

आया अनजान साथ लाया कुछ भी है नहीं,
नेक भी किसी से नहीं जान पहचान है ;
रहता चकित है विलोक यह लोक नया,
उसे यह विश्व इन्द्रजाल के समान है ;
भाता है जगत का न कोई भी पदार्थ उसे,
भाता जननी का बस उर-रस-पान है ;
सो कर ही समय बिताता अधिकांश शिशु,
करता किसी का मानो दिन-रात ध्यान है ।

जिसको विलोक मुग्ध होता है सदैव मन,
मुख पर छाया कैसा विमल प्रकाश है !
मन्द-मन्द मंजुल मधुर मुसकान द्वारा,
करता प्रकट शिशु अतुल हुलास है ;

देख-देख चारों ओर खोजता किसे है वह,
मन में छिपाये कौन मंजु अभिलाष है ?
कोमल-कुसुम जैसे नन्हें-नन्हें अंग में ही,
छिपा सब शक्तियों का चरम विकास है।

शिशु के शरीर की परम लघुता को देख,
होता मन में है भ्रम, है या नहीं तन है ;
मानो रूप-घन से चुआ है सुधा-विन्दु एक,
किम्वा प्रेम-पादप का सुन्दर सुमन है ;
धन की उसे हो नेक कामना कभी क्यों भला ?
वह तो स्वयम् ही बड़ा अनमोल धन है ;
करता सदैव वह शासन जगत का है,
किन्तु बल क्या है ? अहो, केवल रुदन है।

परम अशक्त असहाय वह ज्ञात हुआ,
किन्तु अब कैसा रंग शिशु ने जमाया है,
परवश होकर भी वश में सभी को किया,
मानो वह कोई नया जादू सीख आया है ;
अनायास उसने चुराया चित्त जग का है,
प्रेम-वश लाल और हीरा कहलाया है ;
माता के उदर से निकल कर आया, पर
उर में उसी के स्नेह-रूप में समाया है।

वह है अकाम, दाम से है उसे काम नहीं,
भाता जिसे जो है उसे देता वही नाम
उसकी उपासना में लीन रहता है लोक;
किन्तु वह वासना-विहीन अविराम है;
देश-देश ग्राम-ग्राम धाम-धाम में है वह,
उसका प्रभाव सब ठौर "वसु" याम है;
प्रकटे उसी के रूप में थे घनश्याम-राम,
परम ललाम शिशु ईश अभिराम है।

(माधवी से)

चाँदनी

थी खिली पलास द्रुमाली-सी,
सन्ध्या सुहासिनी की लाली;
मिल गयी प्रभाली थी दोनों,
आने वाली जाने वाली।

हो गयीं दिशाएँ रंजित-सी,
इस अरुण मनोज्ञ प्रभाली से;
पर निकल पड़ी काली रजनी,
सन्ध्या की सुन्दर लाली से।

दिनमणि की जो किरणें दिन में,
थीं फैली जग के कण-कण में ;
वे ही जाकर निशि के नभ में,
हँसती-सी थीं तारागण में।

इस निभृत निशा की गोदी में,
सो रहे सृष्टि के कण-कण थे ;
बस तारागण ही आपस में,
कर रहे मौन सम्भाषण थे ;

खेलने लगा सुन्दर शशि-शिशु,
मणि-जटित गगन के आँगन में ;
तारावलि उसकी प्रभा देख,
खिल गयी मुदित होकर मन में।

उसने सारे जगती तल पर,
निज कीर्त्ति-कौमुदी छिटकायी ;
चढ़ किरण-जाल के वाहन पर,
वह हंस-वाहिनी-सी आयी ;

वसुधा से आकर लिपट गयी,
वह बाल-सखी-सी मन भायी।
मिल कर उससे पुलकित-सी हो,
वसुधा मन ही मन मुसकायी।

अब प्रकृति नटी की रंग-भूमि,
सज गयी खूब है मन भायी ;
है शशि की किरणों ने उस पर,
चाँदनी-चाँदनी फैलायी ;

क्या शुभ्र-हासिनी शरद् घटा,
अवनी पर आकर है छायी ?
अथवा गिर कर नभ से कोई,
सुर बाला हुई धराशायी ?

सोती अबलाओं के समीप,
वह वातायन से जाती है ;
प्रिय शशि समान उनके सुन्दर
मुख चूम-चूम सुख पाती है ।

निर्जन-विपिनों में घुस-घुस कर,
किसकी तलाश वह करती है ?
वह देश-देश में ग्राम-ग्राम में,
किसके लिए विचरती है ?

नभ से अवनी पर आने से,
मानो वह भी थक जाती है ;
श्रम-स्वेद कणों से ओस विन्दु,
धरणी तल पर टपकाती है ;

सागर-सरिता की लहरों से,
हिल मिलकर क्रीड़ा करती है ;
वन, उपवन और सरोवर में,
वह प्रभा-पुँज सी भरती है ;

शैलों के शिखरों पर बैठी,
वह मन्द-मन्द मुसकाती है ;
मृदु पवन् विकम्पित द्रुमावली,
झुक-झुक कर चँवर चलाती है ;

जिसके समीप वह जाती है,
उसका स्वरूप धर लेती है ;
है बहुरूपिणी-बाल छवि-सी,
छवि-छवि में छवि भर देती है ;

लेटी सुमनों की शय्या पर,
वह है वियोगिनी बाला-सी ;
वसुधा के वक्षस्थल पर है,
शुचि, श्वेत सुमन की माला-सी ;

प्रतिबिम्बित चंचल जल में हो,
शशि प्रभा और भी खिलती है ;
सागर की ऊँची लहरों पर,
चाँदनी चाँद से मिलती है ;

परवत की चोटी पर चढ़ कर,
वह करती कौन इशारा है ?
सन्देश भेजती क्या कुछ वह,
शशि को किरणों के द्वारा है ?

फूलों के मृदु उर में घुसकर,
निज जीवन भूला करती है ;
हिलते कोमल किसलय दल पर,
वह झूला, झूला करती है ;

नक्षत्रों से ज्योतित नभ की,
वह है अति सुन्दर छाया-सी ;
संसार अचेतन है जिसमें,
है परब्रह्म की माया-सी ।

[कादम्बिनी से]

परदे में

हैं परदे में बालाएँ
मृदु, मंजुल मणि-मालाएँ ;
सुरराज-सदन-सी सुन्दर,
हैं सजी रंग-शालाएँ ।

ज्योतियाँ रुचिर रत्नों की,
हैं जगमग-जगमग जगती ;
परदे के भीतर प्रति दिन,
हैं इन्द्र सभाएँ लगती ।

शशि की कल कोमल किरणें,
हैं कभी न बाहर आतीं,
परदे के भीतर ही वे
हैं सुधा-वारि बरसातीं।

परदे में सुख का घर है,
सम्पदा स्वयम् है चेरी ;
पर दुःख शोक भी हर दम,
हैं वहाँ लगाते फेरी ।

जीवन, जीवन के सुख को,
अपने ही से खोता है ;
मृदुता का कठोरता से,
दुख मूल मिलन होता है ;

कितनी ही कोमल कलियाँ,
मुँह को भी खोल न पातीं ;
हो दलित कठोर करों से,
मुरझा कर हैं झड़ जातीं ।

शुचि ज्ञान-भानु उर में ही,
है सदा छिपा रह जाता;
उसका प्रकाश अवनी में,
है कभी न होने पाता।

गंगा-यमुना की धारा,
बहती सूने सदनों में;
परदे के भीतर सागर,
लहराता है नयनों में।

कोयलें क़ैद पिंजर में,
सिर-धुन धुन कर हैं रोती;
सुमनों की सुख-शय्या पर,
हैं विरह-व्यथाएँ सोती।

परदे के भीतर कोई,
है कभी न जाने पाता;
तो भी ईर्षानल जाकर,
है कोमल हृदय जलाता।

लोनी-लोनी लतिकाएँ,
दुख के तुषार की मारी,
हैं नित्य सूखती जाती,
भोली भाली बेचारी।

हैं गूँज रहीं परदे में,
कितनी ही क्लेश-कथाएँ;
महलों के भीतर छिप कर,
रहती हैं विविध व्यथाएँ।

सब साथ-साथ रहती हैं,
अबलाएँ और बलाएँ;
शशि की कमनीय कलाएँ;
घन की घनघोर घटाएँ।

कहती हैं करुण कहानी,
रोकर आँखें बेचारी;
उत्तर उनको मिलता है,
लाचारी है लाचारी।

लज्जा का निठुर करों से,
है गला दबाया जाता;
सुख से वंचित बेचारा,
है प्यार ठोकरें खाता।

करुणा की करुण पुकारें,
दीवारों से टकरातीं;
मन की सब अभिलाषाएँ,
मन में ही हैं रह जातीं।

है झूम रही मस्ती से,
मस्ती की ही तसवीरें;
परदे में सिर धुनती हैं,
कितनी फूटी तक़दीरें।

काजल के काले-काले,
गिरते हैं आँसू मोती;
घर के भीतर कोनों में,
हैं दीप-शिखाएँ रोती।

उर-तन्त्री के तारों को,
है बारम्बार बजाती;
अन्तर्वेदना व्यथा के,
है नीरव गाने गाती।

रजनी में दिन रहता है,
दिन में रजनी है काली;
परदे में छिपी हुई है,
दुनिया ही एक निराली।

[मानवी से]

नवीन धारा (पूर्व)

श्री जयशंकर 'प्रसाद'

श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

श्री सुमित्रानन्दन पन्त

प्रसाद का गाम्भीर्य कहीं-कहीं अस्पष्ट है, जैसे वह मौन तपस्वी है। प्रसाद का दार्शनिक और कवि अनेक स्थानों पर अलग हो गया है। अतः कहीं-कहीं उनकी पंक्तियाँ कोरी दार्शनिकता से भरी हैं! कामायनी का 'संघर्ष' इसका उदाहरण है।

प्रसादजी ने जहाँ कहीं गीतों की सृष्टि की है, वहाँ वे पूर्ण सफल हैं। एक भावना का संगीतमय आरोह और अवरोह वे भली भाँति जानते हैं और इसीलिए भाव-चित्रण में वे सिद्धहस्त हैं। उनकी भावुकता जब रहस्यवाद से मिलती है तो वह एक सन्देशवाहिनी हो जाती है। वे भावों के जाल में नहीं उलझते, प्रत्युत वे भावना के पीछे संकेत को श्रेष्ठ मानते हैं।

प्रसादजी उपन्यासलेखक और कहानीकार भी है। वहाँ भी वे आध्यात्मिकता को नहीं भूलते और भावना में बहुत गूढ़ हो जाते हैं। कल्पना में उन्हें अधिक क्षमता नहीं। कल्पना-जगत में वे चित्रों की सृष्टि करते हैं, पर उन्हें सजा नहीं सकते। सम्भवतः उनकी दार्शनिकता उन्हें ऐसा करने से रोकती है।

हिन्दी साहित्य का यह महान दार्शनिक कवि—जिसे जीवन के बाद अपने ग्रन्थ कामायनी पर हिन्दी साहित्य सम्मेलन का मंगलाप्रसाद पारितोषिक प्राप्त करने का गौरव मिला. कार्तिक शुक्ल १२, सम्वत् १९९४ को दिवंगत हो गया।

———

कितनी मधु-संगीत-निनादित
गाथाएँ, निज ले चिर-संचित,
तरल तान, गावेगी वंचित!
पागल-सी इस पथ निरवधि में!

दिनकर हिमकर तारा के दल,
इसके मुकुर वक्ष में निर्मल,
चित्र बनायेंगे निज चंचल!
आशा की माधुरी अवधि में।

———

वे कुछ दिन कितने सुन्दर थे?
जब सावन-घन-सघन बरसते—
इन आँखों की छाया भर थे!

सुरधनु-रंजित नव-जलधर से
भरे, क्षितिज व्यापी अम्बर से,
मिले चूमते जब सरिता के
हरित कूल युग मधुर अधर थे।

प्राण पपीहा के स्वर वाली,
बरस रही थी जब हरियाली,
रस जलकन मालती-मुकुल से—
जो मदमाते गन्ध विधुर थे।

चित्र खींचती थी जब चपला,
नील मेघ पट पर वह विरला,
मेरी जीवन-स्मृति के जिसमें—
खिल उठते वे रूप मधुर थें।

[लहर से]

स्मृति

कितनी निर्जन रजनी में,
तारों के दीप जलाये,
स्वर्गंगा की धारा में,
मिलने की भेट चढ़ाये।

शशि-मुख पर घूँघट डाले
अंचल में दीप छिपाये,
जीवन की गोधूली में,
कौतूहल से तुम आये!

मैं अपलक इन नयनों से
निरखा करता उस छवि को;
प्रतिभा-डाली भर लाता,
कर देता दान सुकवि को।

घन में सुन्दर बिजली सी,
बिजली में चपल चमक-सी;
आँखों में काली पुतली;
पुतली में श्याम-झलक-सी;

प्रतिमा में सजीवता-सी,
बस गयी सुछवि आँखों में,
थी एक लकीर हृदय में,
जो अलग रही लाखों में।

तुम रूप-रूप थे केवल,
या हृदय रहा भी तुमको ?
जड़ता की सब माया थी,
चेतन्य समझकर हमको।

विष-प्याला जो मैं पी लूँ,
वह मदिरा हो जीवन में;
सौन्दर्य्य-पलक-प्याले का,
क्यों प्रेम बना है मन में ?

छलना थी फिर भी, मेरा
इसमें विश्वास घना था;
उस माया की छाया में
कुछ सच्चा स्वयम् बना था।

कामना सिन्धु लहराता
छविपूर्णप्रभा थी छायी;
रत्नाकर बनी चमकती,
मेरे शशि की परछाईं।

लहरों में प्यास भरी थी,
थे भँवर-पात्र भी ख़ाली;
मानस का सब रस पीकर,
लुढ़का दी तुमने प्याली!

सुख - आहत, शान्त - उमंगें
बेगार साँस ढोने में,
यह हृदय समाधि बना है,
रोती करुणा कोने में!

अभिलाषाओं की करवट,
फिर सुप्त व्यथा का जगना,
सुख का सपना हो जाना,
भीगी पलकों का लगना;

इस विकल वेदना को ले,
किसने सुख को ललकारा?
वह एक अबोध अकिंचन,
बेसुध चैतन्य हमारा!

उस पार कहाँ फिर जाऊँ?
तन के मलीन अंचल में,
जीवन का लोभ न है वह,
वेदना छद्म के छल में।

वेदना विकल फिर आयी
मेरी, चौदहों भुवन में;
सुख कहीं न दिया दिखायी,
विश्राम कहाँ जीवन में ?

उच्छ्‌वास और आँसू में
विश्राम थका सोता है;
रोयी आँखों में निद्रा
बनकर, सपना सोता है।

[आँसू से]

—— ——

शिल्प-सौन्दर्य

कोलाहल क्यों मचा हुआ है ? घोर यह
महाकाल का भैरव गर्जन हो रहा;
अथवा तोपों के मिस से हुंकार यह
करता हुआ पयोधि प्रलय का आ रहा ;
नहीं; महा संघर्षण से हो कर व्यथित
हरिचन्दन दावानल फैलाने लगा।
आर्य मन्दिरों के सब ध्वंस बचे हुए
धूल उड़ाने लगे, पड़ी जो आँख में
उनके—जिनसे वे थे खुदवाये गये—
जिससे देख न सकते वे कर्त्तव्य-पथ।

दुर्दिन जल-धारा न सम्हाल सकी, अहो !
बालू की दीवाल मुग़ल साम्राज्य की ;

आर्य-शिल्प के साथ गिरा वह भी जिसे
अपने कर से खोदा आलमगीर ने;
मुग़ल महीपति के अत्याचारी, अबल
कर कँपने से लगे ; अहो ! यह क्या हुआ ?
मुग़ल-अदृष्टाकाश-मध्य, अति तेज से,
धूमकेतु-से सूर्यमल्ल प्रमुदित हुए ;
सिंहद्वार है खुला दीन के मुख सदृश;
प्रतिहिंसा-पूरित वीरों की मंडली
व्याप्त हो रही है दिल्ली के दुर्ग में ;
मुग़ल महीपों के आवासादिक बहुत
टूट चुके हैं, आम ख़ास के अंश भी,
किन्तु न कोई सैनिक भी सम्मुख हुआ ।

रोषानल से ज्वलित नेत्र भी लाल हैं,
मुखमंडल भीषण प्रतिहिंसा-पूर्ण है ।

सूर्यमल्ल, मध्यान्ह सूर्य सम चंड हो,
मोती मस्जिद के प्रांगण में हैं खड़े ;
भीम गदा है कर में, मन में वेग है ;
उठा क्रुद्ध हो, सबल हाथ ले कर गदा,

छज्जे पर जा पड़ा, काँप कर रह गयी,
मर्मर की दीवाल, अलग टुकड़ा हुआ ;
किन्तु न फिर वह चला चंडकर नाश को।
क्यों जी, यह कैसा निष्क्रिय प्रतिरोध है ?

सूर्यमल्ल रुक गये, हृदय भी रुक गया;
भीषणता रुक कर करुणा-सी हो गयी।

कहा—नष्ट कर देंगे यदि विद्वेष से—
इसको, तो फिर एक वस्तु संसार की,
सुन्दरता से पूर्ण सदा के लिए ही
हो जायेगी लुप्त ; बड़ा आश्चर्य है !
आज काम वह किया शिल्प-सौन्दर्य ने,
जिसे न करती कभी सहस्रों वक्तृता।

अति सर्वत्र अहो वर्जित है; सत्य ही,
कहीं वीरता बनती इससे क्रूरता ;
धर्म-जन्य प्रतिहिंसा ने क्या-क्या नहीं
किया, विशेष अनिष्ट शिल्प-साहित्य का ?
लुप्त हो गये कितने ही विज्ञान के
साधन, सुन्दर ग्रन्थ जलाये वे गये ;
तोड़े गये अतीत-कथा-मकरन्द को
रहे छिपाये शिल्प-कुसुम जो शिला हो ;

हे भारत के ध्वंस-शिल्प ! स्मृति से भरे,
कितनी वर्षा शीतातप तुम सह चुके !
तुमको देख करुण इस वेश में,
कौन कहेगा, कब किसने निर्मित किया ?
शिल्पपूर्ण पत्थर कब मिट्टी हो गये ?
किस मिट्टी की ईंटें हैं बिखरी हुई ?
[कानन कुसुम से

खोलो द्वार

शिशिर-कणों से लदी हुई कमली के भींगे हैं सब तार,
चलता है पश्चिम का मारुत, लेकर शीतलता का भार;
भींग रहा है रजनी का वह सुन्दर कोमल कवरी-भार,
अरुण किरण सम कर से छू लो, खोलो प्रियतम खोलो द्वार;

धूल लगी है, पद काँटों से बिधा हुआ, है दुःख अपार,
किसी तरह से भूला-भटका आ पहुँचा हूँ तेरे द्वार;
डरो न इतना, धूल धूसरित होगा नहीं तुम्हारा द्वार;
धो डाले हैं इनको प्रियवर, इन आँखों से आँसू ढार;

मेरे धूलि लगे पैरों से, इतना करो न घृणा प्रकाश,
मेरे ऐसे धूल कणों से कब, तेरे पद को अवकाश ?
पैरों ही से लिपटा-लिपटा कर लूँगा निज पद निर्धार;
अब तो छोड़ नहीं सकता हूँ पाकर प्राप्य तुम्हारा द्वार।

सुप्रभात मेरा भी होवे, इस रजनी का दुःख अपार—
मिट जावे जो तुम को देखूँ, खोलो प्रियतम ! खोलो द्वार ।
[झरना से]

आनन्द

चलता था धीरे—धीरे
वह एक यात्रियों का दल ;
सरिता के रम्य पुलिन में
गिरि-पथ से, ले निज सम्बल ।

था सोम लता से आवृत
वृष धवल धर्म का प्रतिनिधि;
घंटा बजता तालों में
उसकी थी मन्थर गति विधि ।

वृष रज्जु वाम कर में था
दक्षिण त्रिशूल से शोभित ;
मानव था साथ उसी के
मुख पर था तेज अपरिमित ।

केहरि किशोर से अभिनव
अवयव प्रस्फुटित हुए थे ;
यौवन गम्भीर हुआ था
जिसमें कुछ भाव नये थे ।

चल रही इड़ा भी वृष के
दूसरे पार्श्व में नीरव ;
गैरिक वसना सन्ध्या सी
जिसके चुप थे सब कलरव।

उल्लास रहा युवकों का
शिशु गण का था मृदु कलकल;
महिला मंगल गानों से
मुखरित था वह यात्री-दल।

चमरों पर बोझ लदे थे,
वे चलते थे मिल अविरल ;
कुछ शिशु भी बैठ उन्हीं पर
अपने ही बने कुतूहल।

माताएँ पकड़े उनको,
बातें थीं करती जाती
'हम कहाँ चल रहे,' यह सब
उनको विधिवत् समझाती।

कह रहा एक था, "तू तो
कब से ही सुना रही है—
अब आ पहुँची लो देखो
आगे वह भूमि यही है।

पर बढ़ती ही चलती है,
रुकने का नाम नहीं है;
वह तीर्थ कहाँ है ? कह तो,
जिसके हित दौड़ रही है।"

"वह अगला समतल जिस पर
है देवदारु का कानन;
घन अपनी प्याली भरते
ले जिसके दल से हिमकन।

हाँ, इसी ढालवें को जब
बस सहज उतर जावें हम;
फिर सम्मुख तीर्थ मिलेगा
वह अति उज्ज्वल पावन-तम।"

वह इड़ा समीप पहुँच कर
बोला उसको रुकने को;
बालक था, मचल गया था
कुछ और कथा सुनने को;

वह अपलक लोचन अपने
पादाग्र विलोकन करती;
पथ-प्रदर्शिका सी चलती
धीरे-धीरे डग भरती।

बोली, "हम जहाँ चले हैं
वह है जगती का पावन;
साधना प्रदेश किसी का
शीतल अति शान्त तपोवन।"

"कैसा ? क्यों शान्त तपोवन ?
विस्तृत क्यों नहीं बताती ?"
बालक ने कहा इड़ा से,
वह बोली कुछ सकुचाती—

"सुनती हूँ एक मनस्वी
था वहाँ एक दिन आया,
वह जगती की ज्वाला से
अति विकल रहा झुलसाया;

उसकी वह जलन भयानक
फैली गिरि अंचल में फिर;
दावाग्नि प्रखर लपटों ने
कर दिया सघन वन अस्थिर;

थी अर्धांगिनी उसी की
जो उसे खोजती आयी;
यह दशा देख करुणा की
वर्षा दृग में भर लायी;

वरदान बने फिर उसके
आँसू, करते जग मंगल ;
सब ताप शान्त होकर वन
हो गया हरित सुख शीतल ;

गिरि निर्झर चले उछलते
छायी फिर से हरियाली ;
सूखे तरु कुछ मुसक्याये
फूटी पल्लव में लाली ;

वे युगल वहीं अब बैठे ;
संसृति की सेवा करते ;
सन्तोष और सुख देकर
सब की दुख-ज्वाला हरते ।

है वहाँ महा-ह्रद निर्मल
जो मन की प्यास बुझाता ,
मानस उसको कहते हैं
सुख पाता जो है जाता ।"

———

इड़ा

"किस गहन गुहा से अति अधीर
झंझा प्रवाह सा निकला यह जीवन, विक्षुब्ध महा समीर
ले साथ विकल परमाणु पुंज नभ, अनिल, अनल, क्षिति और नीर
भयभीत, सभी को भय देता, भय की उपासना में विलीन;
प्राणी कटुता को बाँट रहा, जगती में करता अधिक दीन,
निर्माण और प्रतिपद विनाश में दिखलाता अपनी क्षमता
संघर्ष कर रहा सा जब से, सब से विराग सब पर ममता
अस्तित्व चिरन्तन धनु से कब यह छूट पड़ा है विषम तीर
किस लक्ष्य भेद को शून्य चीर ?

देखे मैंने वे शैल शृंग
जो अचल हिमानी से रंजित, उन्मुक्त, उपेक्षा भरे तुंग,
अपने जड़ गौरव के प्रतीक, वसुधा का कर अभिमान भंग,
अपनी समाधि में रहे सुखी बह जाती हैं नदियाँ अबोध
कुछ स्वेद-बिन्दु उसके लेकर, वह स्तिमित नयन गत शोक क्रोध
स्थिर मुक्ति, प्रतिष्ठा गति मैं वैसी चाहता नहीं इस जीवन की;
मैं तो अबाध गति मरुत सदृश, हूँ चाह रहा अपने मन की,
जो चूम चला जाता अग जग, प्रति पग में कम्पन की तरंग
वह ज्वलनशील गतिमय पतंग ।

जीवन निशीथ के अन्धकार !

तू नील तुहिन जल-निधि बनकर, फैला है कितना वारपार ?
कितनी चेतनता की किरनें, हैं डूब रहीं ये निर्विकार ?
कितना मादक तम, निखिल भुवन, भर रहा भूमिका में अभंग ?
तू मूर्त्तिमान हो छिप जाता, प्रति पल के परिवर्त्तन अनंग,
ममता की क्षीण अरुण रेखा, खिलती है तुझमें ज्योति कला,
जैसे सुहागिनी की उर्मिल अलकों में कुंकुम चूर्ण भला;
रे चिर निवास विश्राम, प्राण के मोह जलद छाया उदार
माया रानी के केश भार।

जीवन निशीथ के अन्धकार।

तू घूम रहा अभिलाषा के नव ज्वलन धूम सा दुर्निवार,
जिसमें अपूर्ण लालसा, कसक, चिनगारी सी उठती पुकार;
यौवन मधुवन की कालिन्दी, बह रही चूम कर सब दिगन्त,
मन शिशु की क्रीड़ा नौकाएँ, बस दौड़ लगाती हैं अनन्त,
कुहुकिनि अपलक दृग के अंजन ! हँसती तुझमें सुन्दर छलना,
धूमिल रेखाओं से सजीव, चंचल चित्रों की नव-कलना;
इस चिर प्रवास श्यामल पथ में, छायी पिक प्राणों की पुकार।
बन नील प्रतिध्वनि नभ अपार।

नीरव थी प्राणों की पुकार

मूर्छित जीवन सर निस्तरंग, नीहार घिर रहा था अपार;
निस्तब्ध अलस बन कर सोयी, चलती न रही चंचल बयार;
पीता मन मुकुलित कंज आप, अपनी मधु बूँदें मधुर मौन;
निस्वन दिगन्त में रहे रुद्ध, सहसा बोले मनु, "अरे कौन ?
आलोकमयी स्मिति चेतनता आयी यह हेमवती छाया ?"
तन्द्रा के स्वप्न तिरोहित थे, बिखरी केवल उजली माया;
वह स्पर्श दुलार पुलक से भर, बीते युग को उठता पुकार।
वीचियाँ नाचतीं बार बार।

प्रतिभा प्रसन्न मुख सहज खोल

वह बोली, "मैं हूँ इड़ा, कहो तुम कौन यहाँ पर रहे डोल ?"
नासिका नुकीली के पतले पुट फरक रहे कर स्मित अमोल,
"मनु मेरा नाम सुनो बाले ! मैं विश्व पथिक सह रहा क्लेश।"
"स्वागत ! पर देख रहे हो तुम, यह उजड़ा सारस्वत प्रदेश ?
भौतिक हलचल से यह चंचल हो उठा देश ही था मेरा;
इसमें अब तक हूँ पड़ी इसी आशा से आये दिन मेरा।"

× × × ×

"मैं तो आया हूँ देवि, बता दो जीवन का क्या सहज मोल,
भव के भविष्य का द्वार खोल।"

हँस पड़ा गगन वह शून्य लोक;
जिसके भीतर बस कर उजड़े, कितने ही जीवन मरण शोक;
कितने हृदयों के मधुर मिलन, क्रन्दन करते बन बिरह कोक;
ले लिया भार अपने सिर पर, मनु ने यह अपना राज काज;
हँस पड़ी उषा प्राची नभ में, देखे नर अपना राज काज
चल पड़ी देखने वह कौतुक, चंलल मलयाचल की बाला,
लख लाली प्रकृति कपोलों में, गिरता तारा दल मतवाला;
उन्निद्र कमल-कानन में होती थी मधुपों की नोक झोंक;
वसुधा विस्मृत थी सकल शोक।

"जीवन निशीथ का अन्धकार!
भग रहा क्षितिज के अंचल में, मुख आवृत कर तुमको निहार;
तुम इड़े! उषा सी आज यहाँ, आयी हो बन कितनी उदार!
कलरव कर जाग पड़े मेरे, ये मनोभाव सोये बिहंग,
हँसती प्रसन्नता चाव भरी, बनकर किरनों की सी तरंग;
अवलम्ब छोड़ कर औरों का, जब बुद्धिवाद को अपनाया
मैं बढ़ा सहज, तो स्वयम् बुद्धि को मानो आज यहाँ पाया;
मेरे विकल्प संकल्प बने जीवन, हो कर्मों की पुकार
सुख साधन का हो खुला द्वार।"

[कामायनी से]

———

श्री जयशंकर 'प्रसाद' के ग्रन्थ

नाटक— स्कन्दगुप्त, अजातशत्रु, चन्द्रगुप्त, ध्रुवस्वामिनी, विशाख, कामना, जनमेजय का नागयज्ञ, राज्यश्री।

काव्य— कामायनी, आँसू, लहर, कानन कुसुम, महाराणा का महत्व, प्रेम-पथिक, चित्राधार, करुणालय, झरना।

उपन्यास— कंकाल, तितली।

कहानी संग्रह—छाया, आकाशदीप, इन्द्रजाल, प्रतिध्वनि, आँधी।

श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

श्री 'निराला' दार्शनिक कलाकार हैं। अद्वैतवाद की कठिन और सुसंस्कृत विचार-धारा का प्रकाशन निराला की कविता में बड़ी सफलता-पूर्वक हुआ है। विचार-धारा की जटिलता के कारण इनकी कविता अनेक स्थानों पर जटिल और अस्पष्ट हो गयी है। कहीं-कहीं विचार-तारतम्य का पता भी नहीं चलता, पर जिस भाव की व्यंजना निराला की कविता में होती है, वह भाव बड़ा ही विशद और महत्त्वपूर्ण होता है।

निराला का पोषण वंग-संस्कृति में हुआ है, अतः वहाँ की कला का प्रभाव पूर्ण रूप से कवि पर है। कवि ने अपने भावों की विरलता के कारण छन्द को भी विरल और मुक्त बना दिया है। पुराने कवि और आचार्यों को काव्य में यह परिवर्तन असह्य सा हो गया है, पर कवि के विचार-स्वातन्त्र्य और भाव की उत्कृष्टता ने कवि को पराजित नहीं होने दिया। माइकेल मधुसूदनदत्त ने 'मेघनाद वध' लिख कर जिस प्रकार बंग साहित्य को आन्दोलित कर दिया था, उसी प्रकार निराला का मुक्त वृत्त हिन्दी इस समय साहित्यिकों को अस्थिर बना रहा है।

निराला के सौन्दर्य-दर्शन की दृष्टि बहुत दूर तक जाती है। वह केवल प्रकृति के क्षेत्र में ही सीमित नहीं है, वह मानव जगत में भी सौन्दर्य देखती है। जहाँ वह मानव-जगत में सौन्दर्य खोजती है, वहाँ

वह शरीर-सौन्दर्य को स्पष्ट करती है। कहीं-कहीं वह सौन्दर्य नग्न भी हो जाता है, पर उसमें अश्लीलता की भावना नहीं आती। ऐसे पार्थिव सौन्दर्य से केवल कवि की भावना की तृप्ति हो जाती है; उसके पीछे कोई संकेत नहीं है।

निराला उपन्यासकार और कहानी-लेखक भी हैं। इस कला का प्रभाव उनकी कविता पर भी पड़ा है। उन्होंने कुछ घटनाओं को लेकर भी काव्य-रचना की है। वहाँ वर्णनात्मकता इतिवृत्तात्मक ही होकर रह गयी है।

निराला के गीत अपना एक विशेष स्थान रखते हैं। वे भावना में ही गीतिमय नहीं हैं, पर शब्दावली में भी गीतात्मक हैं। निराला की बहुव्यापी कला हिन्दी में वांछनीय है, यद्यपि उनका मुक्त वृत्त अभी तक आलोचकों को सन्तुष्ट और शान्त नहीं कर सका। उनकी दार्शनिकता मुक्त वृत्त के दोष को बहुत कम कर देती है।

बादल-राग

झूम-झूम मृदु गरज-गरज घन घोर !
राग-अमर ! अम्बर में भर निज रोर !

झर झर झर निर्झर-गिरि-सर में,
घर, मरु, तरु-मर्मर, सागर में,
सरित—तड़ित-गति-चकित पवन में
मन में, विजन-गहन-कानन में,
आनन-आनन में रव-घोर-कठोर—
राग-अमर ! अम्बर में भर निज रोर !

अरे वर्ष के हर्ष !
बरस तू बरस-बरस रसधार !
पार ले चल तू मुझको,
बहा, दिखा मुझको भी निज
गर्जन-भैरव-संसार !

उथल पुथल कर हृदय—
मचा हलचल—
　　　　चल रे चल—
　　　　मेरे पागल बादल !

धँसता दलदल,
हँसता है नद खल् खल्
बहता कहता कुलकुल कलकल कलकल !
देख देख नाचता हृदय
बहने को महा विकल—बेकल,
इस मरोर से—इसी शोर से—
सघन घोर गुरु गहन रोर से
मुझे गगन का दिखा सघन वह छोर !
राग अमर ! अम्बर में भर निज रोर !

जागो फिर एक बार

जागो फिर एक बार !
　　　　प्यारे जगाते हुए हारे सब तारे तुम्हें
　　　　अरुण-पंख तरुण-किरण
　　　　खड़ी खोल रही द्वार—

जागो फिर एक बार !

आँखें अलियों-सी
किस मधु की गलियों में फँसी,
बन्द कर पाँखें
पी रही हैं मधु मौन
अथवा सोयी कमल-कोरकों में ?
बन्द हो रहा गुंजार

जागो फिर एक बार !

अस्ताचल ढले रवि,
शशि-छवि विभावरी में
चित्रित हुई है देख
यामिनी-गन्धा जगी,
एक टक चकोर-कोर दर्शन-प्रिय,
आशाओं भरी मौन भाषा बहुभावमयी
घेर रही चन्द्र को चाव से,
शिशिर-भार-व्याकुल कुल
खुले फूल झुके हुए,
आया कलियों में मधुर
मद-उर यौवन-उभार—

जागो फिर एक बार !

पिउ-रव पपीहे प्रिय बोल रहे,
सेज पर विरह-विदग्धा वधू

याद कर बीती बातें, रातें मन-मिलन की
मूँद रही पलकें चारु,
नयन जल ढल गये ;
लघुतर कर व्यथा-भार—
जागो फिर एक बार !
सहृदय समीर जैसे
पोंछो प्रिय नयन-नीर
शयन-शिथिल-बाँहें
भर स्वप्निल आवेश में
आतुर उर वसन-मुक्त कर दो,
सब सुप्ति सुखोन्माद हो;
छूट छूट अलस
फैल जाने दो पीठ पर
कल्पना से कोमल
ऋजु-कुटिल प्रसार-कामी केश-गुच्छ ।
तन-मन थक जाँय,
मृदु सुरभि-सी समीर में
बुद्धि बुद्धि में हो लीन,
मन में मन, जी जी में
एक अनुभव बहता रहे
उभय आत्माओं,
कब से मैं रही पुकार—

जागो फिर एक बार !

उगे अरुणाचल में रवि

आयी भारती-रति कवि-कंठ में,

क्षण क्षण में परिवर्तित

होते रहे प्रकृति पट,

गया दिन, आयी रात,

गयी रात, खुला दिन,

ऐसे ही संसार के बीते दिन, पक्ष, मास

वर्ष कितने ही हज़ार—

जागो फिर एक बार !

तुम और मैं

तुम तुंग हिमालय शृङ्ग, और मैं चंचलगति सुर-सरिता,

तुम विमल हृदय-उच्छ्वास, और मैं कान्त-कामिनी कविता :

तुम प्रेम—और मैं शांति

तुम सुरापान-घन-अन्धकार; मैं हूँ मतवाली भ्रांति।

तुम दिनकर के खर-किरण-जाल, मैं सरसिज की मुसकान,

तुम वर्षों के बीते वियोग, मैं हूँ पिछली पहचान।

तुम योग—और मैं सिद्धि

तुम हो रागानुग निश्छल तप, मैं शुचिता सरल समृद्धि।

तुम मृदु मानस के भाव, और मैं मनोरंजिनी भाषा,
तुम नन्दन-वन-वट-विटप, और मैं सुख-शीतल-तल शाखा।

तुम प्राण—और मैं काया

तुम शुद्ध सच्चिदानन्द ब्रह्म, मैं मनोमोहिनी माया।
तुम प्रेममयी के कंठहार, मैं वेणी काल-नागिनी,
तुम कर-पल्लव झंकृत सितार, मैं व्याकुल विरह रागिनी।

तुम पथ हो, मैं हूँ रेणु

तुम हो राधा के मनमोहन, मैं उन अधरों की वेणु।
तुम पथिक दूर के श्रान्त, और मैं बाट जोहती आशा,
तुम भवसागर दुस्तार, पार जाने की मैं अभिलाषा;

तुम नभ हो, मैं नीलिमा

तुम शरद सुधाकर कला हास, मैं हूँ निशीथ मधुरिमा।
तुम गन्ध कुसुम कोमल पराग, मैं मृदुगति मलय समीर,
तुम स्वेच्छाचारी मुक्त पुरुष, मैं प्रकृति-प्रेम-जंजीर;

तुम शिव हो, मैं हूँ शक्ति

तुम रघुकुल-गौरव रामचन्द्र, मैं सीता अचला भक्ति।
तुम हो प्रियतम मधुमास, और मैं पिक, कल कूजन तान,
तुम मदन पंचशर हस्त, और मैं हूँ मुग्धा अनजान;

तुम अम्बर, मैं दिग्वसना

तुम चित्रकार घन पटल श्याम, मैं तड़ित्तूलिका रचना।

तुम रण तांडव उन्माद नृत्य, मैं युवति मधुर नूपुर ध्वनि,
तुम नाद वेद ओंकार सार, मैं कवि शृंगार शिरोमणि,
तुम यश हो, मैं हूँ प्राप्ति
तुम कुन्द इन्दु अरविन्द शुभ्र, तो मैं हूँ निर्मल व्याप्ति।

[परिमल से]

गीत

सखि, वसन्त आया।
भरा हर्ष वन के मन,
नवोत्कर्ष छाया।
किसलय-वसना नव-वय-लतिका
मिली मधुर प्रिय-उर तरु-पतिका,
मधुप-वृन्द बन्दी—
पिक-स्वर नभ सरसाया।
लता-मुकुल-हार-गन्ध-भार भर
बही पवन बन्द मन्द मन्दतर.
जागी नयनों में वन—
यौवन की माया।

आवृत सरसी-उर-सरसिज उठे,
केशर के केश कली के छुटे;
स्वर्ण-शस्य-अंचल
पृथ्वी का लहराया।

———

कौन तम के पार ?—(रे, कह)
अखिल-पल के स्रोत, जल-जग,
गगन घन-घन-धार—(रे कह)
गन्ध-व्याकुल-कूल-उर-सर,
लहर कच कर कमल-मुख-पर,
हर्ष-अलि हर स्पर्श-शर, सर,
गूँज वारम्वार !—(रे, कह)
उदय में तम-भेद सुनयन,
अस्त-दल ढक पलक-कल तन,
निशा-प्रिय-उर-शयन सुख-धन
सार या कि असार ?—(रे, कह)
बरसता आतप यथा जल
कलुष से कृत सुहृत कोमल,
अशिव उपलाकार मंगल,
द्रवित जल नीहार !—(रे; कह)

———

भारति, जय, विजय करे!
कनक—शस्य कमलधरे

लंका पदतल-शतदल
गर्जितोर्मि सागर-जल,
धोता शुचि चरण युगल,
स्तव कर बहु-अर्थ-भरे।
तरु-तृण-वन-लता वसन,
अंचल में खचित सुमन,
गंगा ज्योतिर्जल-कण
धवल-धार हार गले।
मुकुट शुभ्र हिम-तुषार,
प्राण प्रणव ओंकार,
ध्वनित दिशाएँ उदार,
शतमुख-शतरव—मुखरे।

———

टूटे सकल बन्ध
कलि के, दिशा-ज्ञान-गत हो बहे गन्ध।
रुद्ध जो धार रे
शिखर-निर्झर झरे,
मधुर कलरव भरे
शून्य शत शत रन्ध्र;

रश्मि ऋजु खींच दे
चित्र शत रंग के,
वर्ण - जीवन फले,
जागे तिमिर अन्ध।

कैसी बजी बीन?
सजी मैं दिन-दीन!

हृदय में कौन जो छेड़ता बाँसुरी?
हुई ज्योत्स्नामयी अखिल माया पुरी;
लीन स्वर-सलिल में मैं बन रही मीन।

स्पष्ट ध्वनि—'आ, धनि, सजी यामिनी भली;
मन्द पद आ बन्द कुंज उर की गली;
मंजु, मधु-गुंजरित कलि दल-समासीन!
'देख, आरक्त पाटल-पटल खुल गये,
माधवी के नये खुले गुच्छे नये,
मलिन मन, दिवस-निशि, तू क्यों रही क्षीण?

[गीतिका से]

श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' के ग्रन्थ

काव्य— अनामिका, परिमल, गीतिका

उपन्यास— अप्सरा, अलका, निरुपमा

कहानी— लिली, सखी

निबन्ध— प्रबन्ध पद्म

आलोचना—रवीन्द्र कविता कानन

———

श्री सुमित्रानन्दन पन्त

श्री सुमित्रानन्दन पन्त प्रकृति के सब से सुकुमार कवि हैं। कविता जैसे इनके हृदय से निर्झरणी के समान फूट निकली है। इनकी चित्रावली इतनी कोमल और मधुर है कि उस पर हृदय एक बार ही मुग्ध हो जाता है। ऐसा ज्ञात होता है कि कवि की लेखनी राजपूत चित्रकला के चित्रकार की बारीक तूलिका है, जिससे वह भाव के बड़े हृदयग्राही चित्रों में रंग भरता है। खड़ी बोली के परुष रूप को कोमलतम पदावली देने का श्रेय एकमात्र पन्त को है। शब्द-चयन इतना उपयुक्त और भावानुकुल है कि शब्द की ध्वनि में चित्र साकार हो जाता है।

कवि में अनुभूति बहुत ऊँचे दरजे की है। भावों के रूप पर कवि शब्दों का नृत्य उपस्थित करता है। अनन्त सन्देश की व्यंजना पन्त की कविता में पद-पद पर लक्षित होती है। प्रकृति का तो कवि पूर्ण उपासक है। प्रकृति जैसे साकार होकर कविता में बैठ जाती है। दार्शनिक गम्भीरता भावों की सरसता में उपदेश का रूप नहीं लेने पाती। इनका 'मौन निमन्त्रण' हिन्दी कविता का अमर वरदान है। इनकी उपमाएँ नवीन और भाव-व्यंजक हैं और वे इनकी शैली में रत्नों की भाँति जड़ी हुई हैं।

पन्त ने इधर जीवन की वास्तविकता की ओर भी ध्यान दिया है। अपनी कल्पना के क्षेत्र से निकल कर उन्होंने संघर्षमय जीवन का स्थूल रूप देखने का प्रयत्न किया है। इस प्रकार की कविताओं में यद्यपि भावव्यंजना तो है, पर पदावली का कोमल रूप नहीं है।

पन्त एक युगान्तरकारी कवि हैं और किसी भी साहित्य को उन पर गर्व हो सकता है।

मौन निमन्त्रण

स्तब्ध ज्योत्स्ना में जब संसार
चकित रहता शिशु-सा नादान;
विश्व के पलकों पर सुकुमार
विचरते हैं जब स्वप्न अजान;
न जाने, नक्षत्रों से कौन,
निमन्त्रण देता मुझको मौन ?

सघन मेघों का भीमाकाश
गरजता है जब तमसाकार;
दीर्घ भरता समीर निःश्वास,
प्रखर झरती जब पावस-धार;
न जाने, तपक तड़ित में कौन,
मुझे इंगित करता तब मौन ?

देख वसुधा का यौवन-भार,
गूँज उठता है जब मधु मास;
विधुर-उर के-से मृदु उद्‌गार
कुसुम जब खुल पड़ते सोच्छ्‌वास;
न जाने, सौरभ के मिस कौन,
सँदेशा मुझे भेजता मौन?

क्षुब्ध जल-शिखरों को जब वात
सिन्धु में मथ कर फेनाकार,
बुलबुलों का व्याकुल संसार
बना बिथुरा देती अज्ञात;
उठा तब लहरों से कर, कौन,
न जाने, मुझे बुलाता मौन?

स्वर्ण, सुख, श्री, सौरभ में भोर
विश्व को देती है जब बोर,
विहग-कुल की कल कंठ-हिलोर
मिला देती भू-नभ के छोर;
न जाने, अलस-पलक-दल कौन,
खोल देता तब मेरे मौन?

तुमुल-तम में जब एकाकार
ऊँघता एक साथ संसार,
भीरु झींगुर-कुल की झंकार -
कँपा देती तन्द्रा के तार;
न जाने, खद्योतों से कौन,
मुझे पथ दिखलाता है मौन ?

कनक-छाया में जब कि सकाल
खोलती कलिका उर के द्वार,
सुरभि-पीड़ित मधुपों के बाल
तड़प बन जाते हैं गुंजार;
न जाने, ढुलक ओस में कौन,
खींच लेता मेरे दृग मौन ?

बिछा कार्यों का गुरुतर भार,
दिवस को दे सुवर्ण-अवसान,
शून्य शय्या में, श्रमित अपार,
जुड़ाती जब मैं आकुल प्राण,
न जाने, मुझे स्वप्न में कौन,
फिराता छाया-जग में मौन ?

न जाने कौन, अये द्युतिमान !
जान मुझको अबोध, अज्ञान ,
सुझाते हो तुम पथ अनजान,
फूँक देते छिद्रों में गान;
अहे, सुख-दुख के सहचर मौन !
नहीं कह सकती तुम हो कौन ?

[पल्लव से]

गुंजन

तुम्हारी आँखों का आकाश,
सरल आँखों का नीलाकाश—
खो गया मेरा खग अनजान,
मृगेक्षिणि ! इनमें खग अज्ञान ।

देख इनका चिर करुण प्रकाश,
अरुण-कोरों में उषा-विलास,
खोजने निकला निभृत निवास,
प्रिये, पल्लव-प्रच्छाय-निवास;
न जाने ले क्या-क्या अभिलाष
खो गया बाल-विहग-नादान ?

तुम्हारे नयनों का आकाश
सजल, श्यामल, अकूल आकाश—
गूढ़, नीरव, गम्भीर प्रसार,
न गहने को तृण का आधार;
बसायेगा कैसे संसार !
प्राण ! इनमें अपना संसार !
न इनका ओर-छोर रे पार,
खो गया वह नव-पथिक अजान !

———

मधुवन

आज नव-मधु की प्रात,
झलकती नभ-पलकों में प्राण !
मुग्ध यौवन के स्वप्न समान,
झलकती, मेरी जीवन-स्वप्न-प्रभात !
तुम्हारी मुख-छवि सी रुचिमान ;
आज लोहित मधु-प्रात,
व्योम-लतिका में छायाकार
खिल रही नव-पल्लव-सी लाल,
तुम्हारे मधुर-कपोलों पर सुकुमार
लाज का ज्यों मृदु किसलय जाल !

आज उन्मद मधु-प्रात,

गगन के इन्दीवर से नील
झर रही स्वर्ण-मरन्द समान,
तुम्हारे शयन-शिथिल सरसिज उन्मील
छलकता ज्यों मदिरालस, प्राण!

आज स्वर्णिम मधु-प्रात,

व्योम के विजन कुंज में, प्राण!
खुल रही नवल गुलाब समान,
लाज के विनत-वृन्त पर ज्यों अभिराम
तुम्हारा मुख-अरविन्द सकाम।

प्रिये, मुकुलित मधुप्रात,

मुक्त नभ-वेणी में सोभार
सुहाती रक्त-पलाश समान;
आज मधुवन मुकुलों में झुक साभार
तुम्हें करता निज विभव प्रदान।
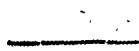
एक तारा

नीरव सन्ध्या में प्रशान्त
डूबा है सारा ग्राम-प्रान्त ;
पत्रों के आनत अधरों पर, सो गया निखिल वन का मर्मर,
ज्यों वीणा के तारों में स्वर ;
खग-कूजन भी हो रहा लीन, निर्जन गोपथ अब धूलिहीन;
धूसर भुजंग-सा जिह्म, क्षीण ।
झींगुर के स्वर का प्रखर तीर, केवल प्रशान्ति को रहा चीर,
सन्ध्या-प्रशान्ति को कर गंभीर ;
इस महाशान्ति का उर उदार, चिर आकांक्षा की तीक्ष्ण-धार,
ज्यों वेध रही हो आर-पार ।

अब हुआ सान्ध्य-स्वर्णाभलीन,
सब वर्ण वस्तु से विश्वहीन ;
गंगा के चल-जल में निर्मल, कुम्हला किरणों का रक्तोत्पल,
है मूँद चुका अपने मृदु दल ;
लहरों पर स्वर्ण-रेख सुन्दर, पड़ गयी नील, ज्यों अधरों पर,
अरुणाई प्रखर शिशिर से डर ;
तरु-शिखरों से वह स्वर्ण विहग, उड़ गया, खोल निज पंख सुभग,
किस गुहा-नीड़ में रे किस मग ?
मृदु-मृदु स्वप्नों से भर अंचल, नव नील-नील, कोमल-कोमल,
छाया तरु-वन में तम श्यामल ।

पश्चिम नभ में हूँ रहा देख
उज्वल, अमन्द नक्षत्र एक—
अकलुष, अनिन्द्य नक्षत्र एक, ज्यों मूर्तिमान ज्योतित विवेक,
उर में हो दीपित अमर टेक ;
किस स्वर्णाकांक्षा का प्रदीप, वह लिये हुए, किसके समीप ?
मुक्तालोकित ज्यों रजत-सीप !
क्या उसकी आत्मा का चिर-धन, स्थिर, अपलक-नयनों का चिन्तन ?
क्या खोज रहा वह अपनापन ?
दुर्लभ रे, दुर्लभ अपनापन, लगता यह निखिल विश्व निर्जन,
वह निष्फल-इच्छा से निर्धन ।

आकांक्षा का उच्छ्वसित वेग
मानता नहीं बन्धन-विवेक ।
चिर आकांक्षा से थर्-थर्, उद्वेलित रे अहरह सागर,
नाचती लहर पर हहर लहर ;
अविरत-इच्छा में ही नर्तन, करते अबाध रवि, शशि, उडु गण,
दुस्तर आकांक्षा का बन्धन ;
रे उडु, क्या जलते प्राण विकल ? क्या नीरव, नीरव नयन सजल ?
जीवन निसंग रे व्यर्थ-विफल !
एकाकीपन का अन्धकार, दुस्सह है इसका मूक-भार,
इसके विषाद का रे न पार !

× × + +

चिर अविचल पर तारक अमन्द !
जानता नहीं वह छन्द-बन्ध ;
वह रे ! अनन्त का मुक्त-मीन, अपने असंग-सुख में विलीन,
स्थित निज स्वरूप में चिर नवीन ;
निष्कम्प-शिखा सा वह निरुपम, भेदता जगत-जीवन का तम,
वह शुद्ध-प्रबुद्ध, शुक्र, वह सम !
गुंजित अलि-सा निर्जन अपार, मधुमय लगता घन-अन्धकार,
हलका एकाकी व्यथा-भार !
जगमग-जगमग नभ का आँगन, लद गया कुन्द कलियों से घन,
वह आत्म और यह जग-दर्शन ।

[गुंजन से]

बापू के प्रति

तुम मांस-हीन, तुम रक्त-हीन,
हे अस्थि-शेष ! तुम अस्थि-हीन,
तुम शुद्ध-बुद्ध आत्मा केवल,
हे चिर पुराण ! हे चिर नवीन !
तुम पूर्ण इकाई जीवन की,
जिसमें असार भव-शून्य लीन;
आधार अमर, होगी जिस पर
भावी की संस्कृति समासीन !

तुम मांस, तुम्हीं हो रक्त-अस्थि,—
निर्मित जिनसे नवयुग का तन,
तुम धन्य! तुम्हारा निःस्व-त्याग
है विश्व भोग का वर साधन।
इस भस्म-काम तन की रज से
जग पूर्ण-काम नव जग-जीवन,
बीनेगा सत्य-अहिंसा के
ताने-बानों से मानवपन!

सदियों का दैन्य-तमिस्र तूम,
धुन तुमने कात प्रकाश-सूत,
हे नग्न! नग्न-पशुता ढँक दी
बुन नव संस्कृत मनुजत्व पूत;
जग पीडित छूतों से प्रभूत,
छू अमृत स्पर्श से, हे अछूत!
तुमने पावन कर, मुक्त किये
मृत संस्कृतियों के विकृत भूत!

सुख-भोग खोजने आते सब,
आये तुम करने सत्य खोज,
जग की मिट्टी के पुतले जन,
तुम आत्मा के, मन के मनोज!

जड़ता, हिंसा, स्पर्धा में भर
चेतना, अहिंसा नम्र-ओज,
पशुता का पंकज बना दिया
तुमने मानवता का सरोज!

पशु-बल की कारा से जग को
दिखलायी आत्मा की विमुक्ति,
विद्वेष, घृणा से लड़ने को
सिखलायी दुर्जय प्रेम-युक्ति;
वर श्रम-प्रसूति से की कृतार्थ
तुमने विचार-परिणीत उक्ति,
विश्वानुरक्त हे अनासक्त!
सर्वस्व-त्याग को बना मुक्ति!

सहयोग सिखा शासित-जन को
शासन का दुर्वह हरा भार,
होकर निरस्त्र, सत्याग्रह से
रोका मिथ्या का बल प्रहार;
बहु भेद-विग्रहों में खोयी
ली जीर्ण जाति क्षय से उबार;
तुमने प्रकाश को कह प्रकाश,
औ' अन्धकार को अन्धकार।

उर के चरखे में कात सूक्ष्म
युग-युग का विषय-जनित विषाद,
गुंजित कर दिया गगन जग का
भर तुमने आत्मा का निनाद;
रँग-रँग खद्दर के सूत्रों में,
नव जीवन-आशा, स्पृहा, ह्लाद,
मानवी-कला के सूत्रधार!
हर दिया यन्त्र-कौशल-प्रवाद।

जड़वाद जर्जरित जग में तुम
अवतरित हुए आत्मा महान,
यन्त्राभिभूत युग में करने
मानव-जीवन का परित्राण;
वह छाया-बिम्बों में खोया
पाने व्यक्तित्व प्रकाशवान,
फिर रक्त-मांस प्रतिमाओं में
फूँकने सत्य से अमर प्राण!

संसार छोड़ कर ग्रहण किया
नर-जीवन का परमार्थ-सार,
अपवाद बने, मानवता के
ध्रुव नियमों का करने प्रचार;

हो सार्वजनिकता जयी, अजित !
तुमने निजत्व निज दिया हार,
लौकिकता को जीवित रखने
तुम हुए अलौकिक, हे उदार !

मंगल-शशि-लोलुप मानव थे
विस्मित, ब्रह्मांड-परिधि विलोक;
तुम केन्द्र खोजने आये तब
सब में व्यापक, गत राग-शोक;
पशु पक्षी-पुष्पों से प्रेरित
उद्दाम-काम जन क्रान्ति रोक,
जीवन इच्छा को आत्मा के
वश में रख, शासित किये लोक।

था व्याप्त दिशावधि ध्वान्त भ्रान्त,
इतिहास विश्व-उद्भव प्रमाण,
बहु हेतु, बुद्धि, जड़ वस्तु वाद,
मानव-संस्कृति के बने प्राण;
थे राष्ट्र, अर्थ, जन, साम्य-वाद
छल सभ्य-जगत के शिष्ट-मान,
भू पर रहते थे मनुज नहीं,
बहु रूढ़ि-रीति प्रेतों-समान—

तुम विश्व मंच पर हुए उदित,
बन जग-जीवन के सूत्रधार,
पट पर पट उठा दिये मन से,
कर नर-चरित्र का नवोद्धार;
आत्मा को विषयाधार बना,
दिशि-पल के दृश्यों को सँवार,
गा-गा एकोऽहं बहु स्याम,
हर लिये भेद, भव-भीति-भार।

एकता इष्ट निर्देश किया,
जग खोज रहा था जब समता,
अन्तर-शासन चिर राम-राज्य,
औ' बाह्य, आत्महन-अक्षमता;
हों कर्म-निरत जन, राग विरत,
रति-विरति-व्यतिक्रम भ्रम-ममता,
प्रतिक्रिया-क्रिया साधन-अवयव,
है सत्य सिद्ध, गति-यति क्षमता।

ये राज्य, प्रजा, जन, साम्य-तन्त्र
शासन-चालन के कृतक यान,
मानस, मानुषी, विकास-शास्त्र
हैं तुलनात्मक, सापेक्ष ज्ञान;

भौतिक विज्ञानों की प्रसूति
जीवन - उपकरण - चयन - प्रधान,
मथ सूक्ष्म-स्थूल जग, बोले तुम—
मानव मानवता का विधान!

साम्राज्यवाद था कंस, बन्दिनी
मानवता, पशु - बलाक्रान्त,
शृंखला दासता, प्रहरी बहु
निर्मम शासन-पद शक्ति-भ्रान्त;
कारागृह में दे दिव्य जन्म
मानव-आत्मा को मुक्त-कान्त,
जन-शोषण की बढ़ती यमुना
तुमने की नत-पद-प्रणत, शान्त!

कारा थी संस्कृति विगति, भित्ति
बहु धर्म जाति-गत रूप-नाम,
बन्दी जग-जीवन, भू-विभक्त,
विज्ञान-मूढ़ जन प्रकृति-काम;
आये तुम मुक्त पुरुष, कहने—
मिथ्या जड़ बन्धन, सत्य राम;
नानृतं जयति सत्यं, मा भैः,
जय ज्ञान-ज्योति, तुमको प्रणाम!

[युगान्त से]

———

गीत

जीवन का श्रम ताप हरो, हे !
सुख सुखमा के मधुर स्वर्ण से
सूने जग गृह द्वार भरो, हे !
लौटे गृह सब श्रान्त चराचर,
नीरव तरु अधरों पर मर्मर,
करुणानत निज कर पल्लव से
विश्व नीड़ प्रच्छाय करो, हे ! जीवन...
उदित शुक्र अब अस्त भानु-बल,
स्तब्ध पवन, नत नयन पद्म दल
तन्द्रिल पलकों में निशि के शशि !
सुखद स्वप्न बन कर विचरो, हे ! जीवन...

[ज्योत्स्ना से]

श्री सुमित्रानन्दन पन्त के ग्रन्थ

काव्य—पल्लव, वीणा, ग्रन्थि, गुंजन, युगान्त, पल्लविनी (अप्रकाशित), युगवाणी (अप्रकाशित)

नाटक—ज्योत्स्ना

कहानी—पाँच कहानियाँ

नवीन धारा (उत्तर)

श्रीमती महादेवी वर्मा

श्री रामकुमार वर्मा

श्री भगवतीचरण वर्मा

श्रीमती महादेवी वर्मा

हिन्दी साहित्य में करुण रस की सब से अधिक सफल कवयित्री श्रीमती महादेवी वर्मा हैं। उन्होंने जीवन के सम्पूर्ण करुण चित्रों को देखा है और उन्हें अपने आँसुओं से लिखा है। जिस प्रकार मीरा ने 'गिरिधर गोपाल' के सभी व्यापक चित्रों को देख कर, उनसे अपने नेत्रों में बसने की प्रार्थना की थी, उसी प्रकार महादेवी ने भी आध्यात्मिक विरह में 'नभ की दीपावलियों' को बुझने का आदेश देकर अपने 'देव' से 'तम के परदे' में आने की याचना की है।

महादेवी की प्रकृति भी वियोगिनी है, और वह कवयित्री के भाव-जगत में सम्पूर्ण रूप से व्यापक है। महादेवी करुण विचारों की पीठिका पर अपना जीवन मुरझाये हुए फूल की भाँति रख देती हैं। उसी में उनके काव्य का समस्त सौन्दर्य है। विरह के संकेत में जीवन की बड़ी करुण अभिव्यक्ति है। उनके जीवन में यदि सुख है तो यही विरह का सन्तोष। इस सरस अनुभूति ने उनकी कविता को बहुत सजीव बना दिया है। भावना के उत्कर्ष में उनकी कल्पना गौण हो जाती है और वे पार्थिव जगत से उठ कर एक भावात्मक जगत की निवासिनी बन जाती हैं।

इनकी कविता में रहस्यवाद का भी संकेत है जो 'सान्ध्य गीत' में स्पष्ट है, पर उस रहस्यवाद की अभिव्यक्ति व्यापक नहीं है। अतः भावना में जहाँ महादेवी रामकुमार से ऊपर उठ जाती हैं, वहाँ आध्यात्मिक संकेत में संकुचित हो जाती हैं।

करुणा की इस कवयित्री की अनुभूति में संसार का दुख भी सुख में परिणत हो जाता है।

अधिकार

वे मुस्काते फूल नहीं,
जिनको आता है मुरझाना;
वे तारों के दीप नहीं,
जिनको भाता है बुझ जाना;
वे नीलम के मेघ नहीं
जिनको है घुल जाने की चाह;
वह अनन्त ऋतुराज नहीं,
जिसने देखी जाने की राह।

वे सूने से नयन नहीं,
जिनमें बनते आँसू-मोती;
वह प्राणों की सेज नहीं,
जिसमें बेसुध पीड़ा रोती;
ऐसा तेरा लोक, वेदना
नहीं, नहीं जिसमें अवसाद;
जलना जाना नहीं, नहीं
जिसने जाना मिटने का स्वाद!

× × ×

क्या अमरों का लोक मिलेगा
तेरी करुणा का उपहार ?
रहने दो हे देव ! अरे
यह मेरा मिटने का अधिकार !

———

मेरा राज्य

रजनी ओढ़े जाती थी
झिलमिल तारों की जाली,
उसके बिखरे वैभव पर
जब रोती थी उजियाली;

शशि को छूने मचली सी
लहरों का कर-कर चुम्बन,
बेसुध तम की छाया का
तटनी करती आलिंगन।

अपनी जब करुण कहानी
कह जाता है मलयानिल,
आँसू से भर जाता जब
सूखा अवनी का अंचल;

पल्लव के डाल हिंडोले
सौरभ सोता कलियों में,
छिप-छिप किरणें आतीं जब
मधु से सींची गलियों में।

आँखों में रात बिता जब
विधु ने पीला मुख फेरा,
आया फिर चित्र बनाने
प्राची में प्रात चितेरा;

कन-कन में जब छायी थी
वह नव यौवन की लाली,
मैं निरधन तब आयी ले
सपनों से भर कर डाली।

जिन चरणों की नख ज्योती
ने, हीरकजाल लजाये,
उन पर मैंने धुँधले से
आँसू दो चार चढ़ाये!

इन ललचाई पलकों पर
पहरा जब था व्रीड़ा का,
साम्राज्य मुझे दे डाला
उस चितवन ने पीड़ा का!

उस सोने के सपने को
देखे कितने युग बीते!
आँखों के कोष हुए हैं
मोती बरसा कर रीते;

अपने इस सूनेपन की
मैं हूँ रानी मतवाली!
प्राणों का दीप जला कर
करती रहती दीवाली

मेरी आहें सोती हैं
इन ओठों की ओटों में,
मेरा सर्वस्व छिपा है
इन दीवानी चोटों में!

चिन्ता क्या है, हे निर्मम!
बुझ जाये दीपक मेरा;
हो जायेगा तेरा ही
पीड़ा का राज्य अँधेरा!

———

निश्चय

कितनी रातों की मैंने
नहलायी है अँधियारी,
धो डाली है सन्ध्या के
पीले सेंदुर से लाली;
नभ के धुँधले कर डाले
अपलक चमकीले तारे,
इन आहों पर तैरा कर
रजनीकर पार उतारे।

बह गयी क्षितिज की रेखा,
मिलती है कहीं न हेरे;
भूला सा मत्त समीरण
पागल सा देता फेरे!
अपने उर पर सोने से
लिख कर कुछ प्रेम कहानी,
सहते हैं रोते बादल
तूफ़ानों की मनमानी।

इन बूँदों के दर्पण में
करुणा क्या झाँक रही है?
क्या सागर की धड़कन में
लहरें बढ़ आँक रही हैं?

पीड़ा मेरे मानस से
भीगे पट सी लिपटी है,
डूबी सी यह निश्वासें
ओठों में आ सिमटी हैं।

मुझमें विक्षिप्त झकोरे!
उन्माद मिला दो अपना;
हो नाच उठे जिसको छू,
मेरा नन्हा सा सपना!

पीड़ा टकरा कर फूटे,
घूमे विश्राम विकल सा;
तम बढ़े, मिटा डाले सब,
जीवन काँपे चलदल सा।

फिर भी इस पार न आवे
जो मेरा नाविक निर्मम!
सपनों से बाँध डुबाना
मेरा छोटा सा जीवन!

प्रतीक्षा

जिस दिन नीरव तारों से
बोलीं किरणों की अलकें,
'सो जाओ, अलसायी हैं
सुकुमार तुम्हारी पलकें;'

जब इन फूलों पर मधु की
पहली बूँदें बिखरी थीं;
आँखें पंकज की देखीं.
रवि ने मनुहार भरी सी;

दीपकमय कर डाला जब
जलकर पतंग ने जीवन,
सीखा बालक मेघों ने
नभ के आँगन में रोदन;

उजियारी अवगुंठन में
विधु ने रजनी को देखा;
तब से मैं ढूँढ़ रही हूँ
उनके चरणों की रेखा।

मैं फूलों में रोती, वे
बालारुण में मुस्काते;
मैं पथ में बिछ जाती हूँ,
वे सौरभ में उड़ जाते।

वे कहते हैं, 'उनको मैं
अपनी पुतली में देखूँ !'
यह कौन बता जायेगा,
'किसमें पुतली को देखूँ ?'

मेरी पलकों पर रातें
बरसा कर मोती सारे,
कहतीं, 'क्या देख रहे हैं,
अविराम तुम्हारे तारे ?'

तम ने इन पर अंजन से
बुन-बुन कर चादर तानी;
इन पर प्रभात ने फेरा,
आकर सोने का पानी;

इन पर सौरभ की साँसें
लुट-लुट जातीं दीवानी;
यह पानी में बैठी हैं,
बन स्वप्नलोक की रानी।

कितनी बीतीं पतझारें !
कितने मधु के दिन आये !
मेरी मधुमय पीड़ा को,
कोई पर ढूँढ न पाये !

झिप-झिप आँखें कहती हैं,
"यह कैसी है अनहोनी ?
हम और नहीं खेलेंगी
उनसे यह आँख-मिचौनी।"

अपने जर्जर अंचल में
भर कर सपनों की माया,
इन थके हुए प्राणों पर
छायी विस्मृति की छाया !

× × ×

मेरे जीवन की जाग्रति !
देखो फिर भूल न जाना—
जो वे सपना बन आवें,
तुम चिरनिद्रा बन जाना !

[नीहार से]

——

रश्मि

चुभते ही तेरा अरुण बान,

बहते कन-कन से फूट-फूट,

मधु के निर्झर से सजल गान।

इन कनक-रश्मियों में अथाह,

लेता हिलोर तम-सिन्धु जाग;

बुदबुद से बह चलते अपार,

उसमें विहगों के मधुर राग;

बनती प्रवाल का मृदुल कूल,

जो क्षितिज-रेख थी कुहर-म्लान।

नव-कुन्द-कुसुम-से मेघ-पुंज,

बन गये इन्द्र धनुषी वितान;

दे मृदु कलियों की चटक, ताल,

हिम-विन्दु नचाती तरल प्राण;

धो स्वर्णप्रात में तिमिरगात,

दुहराते अलि निशि मूक तान।

सौरभ का फैला केश-जाल,

करतीं समीर परियाँ विहार;

गीली केसर, मद झूम-झूम,
पीते तितली के नव कुमार ;
मर्मर का मधुसंगीत, छेड़
देते हैं, हिल पल्लव अजान !

फैला अपने मृदु स्वप्न पंख,
उड़ गयी नींद निशि क्षितिज-पार;
अधखुले दृगों के कंज कोष
पर, छाया विस्मृति का ख़ुमार ;
रँग रहा हृदय ले अश्रु हास,
यह चतुर चितेरा सुधि विहान !

उलझन

अलि ! कैसे उनको पाऊँ ?
वे आँसू बन कर मेरे,
इस कारण ढुल-ढुल जाते;
इन पलकों के बन्धन में,
मैं बाँध-बाँध पछताऊँ ।
मेघों में विद्युत् सी छवि
उनकी, बनकर मिट जाती
आँखों की चित्र-पटी में;
जिसमें मैं आँक न पाऊँ ।

वे आभा बन खो जाते,
शशि किरणों की उलझन में,
जिसमें उनको कण-कण में,
ढूँढ़ूँ, पहिचान न पाऊँ।

सोते सागर की धड़कन
बन लहरों की थपकी से;
अपनी यह करुण कहानी,
जिसमें उनको न सुनाऊँ।

वे तारक बालाओं की,
अपलक चितवन बन आते;
जिसमें उनकी छाया भी,
मैं छू न सकूँ, अकुलाऊँ।

वे चुपके से मानस में,
आ छिपते उच्छ्वासें बन;
जिसमें उनको साँसों में,
देखूँ पर रोक न पाऊँ।

वे स्मृति बन कर मानस में,
खटका करते हैं निशि दिन;
उनकी इस निष्ठुरता को,
जिसमें मैं भूल न जाऊँ।

———

गीत

आज क्यों तेरी वीणा मौन ?

शिथिल, शिथिल तन, थकित हुए कर,
स्पन्दन भी भूला जाता उर ;
मधुर कसक सा आज हृदय में
आन समाया कौन ?
आज क्यों तेरी वीणा मौन ?

झुकती आतीं पलकें निश्चल,
चित्रित, निद्रित से तारक चल,
सोता पारावार दृगों में
भर-भर लाया कौन ?
आज क्यों तेरी वीणा मौन ?

बाहर घन-तम, भीतर दुख-तम,
नभ में विद्युत्, तुझ में प्रियतम;
जीवन पावस-रात बनाने
सुधि बन छाया कौन ?
आज क्यों तेरी वीणा मौन ?

"बीन भी हूँ, मैं तुम्हारी रागिनी भी हूँ!
नींद थी मेरी अचल निस्पन्द कण-कण में,
प्रथम जागृति थी जगत के प्रथम स्पन्दन में,
प्रलय में मेरा पता, पदचिह्न जीवन में,
शाप हूँ जो बन गया वरदान बन्धन में,
कूल भी हूँ, कूलहीन प्रवाहिनी भी हूँ!
नयन में जिसके जलद, वह तृषित चातक हूँ,
शलभ जिसके प्राण में, वह निठुर दीपक हूँ,
फूल को उर में छिपाये, विकल बुलबुल हूँ,
एक हो कर दूर तन से छाँह वह चल हूँ,
दूर तुम से हूँ, अखंड सुहागिनी भी हूँ!
आग हूँ जिससे ढुलकते बिन्दु हिमजल के,
शून्य हूँ जिसको बिछे हैं पाँवड़े पल के,
पुलक हूँ वह जो पला है कठिन प्रस्तर में,
हूँ वही प्रतिबिम्ब जो आधार के उर में;
नील घन भी हूँ, सुनहली दामिनी भी हूँ!
नाश भी हूँ मैं, अनन्त विकास का क्रम भी,
त्याग का दिन भी, चरम आसक्ति का तम भी,
तार भी, आघात भी, झंकार की गति भी,
पात्र भी, मधु भी, मधुप भी, मधुर विस्मृति भी;
अधर भी हूँ, और स्मित की चाँदनी भी हूँ।

———

तुम मुझ में प्रिय ! फिर परिचय क्या ?

तारक में छवि, प्राणों में स्मृति,
पलकों में नीरव पद की गति,
लघु उर में पुलकों की संसृति;
भर लायी हूँ तेरी चंचल
और करूँ जग में संचय क्या ?

तेरा मुख सहास अरुणोदय,
परछाईं रजनी विषादमय,
यह जागृति, वह नींद स्वप्नमय;
खेल खेल, थक थक सोने दो
मैं समझूँगी सृष्टि प्रलय क्या ?

तेरा अधर-विचुम्बित प्याला,
तेरी ही स्मितमिश्रित हाला,
तेरा ही मानस मधुशाला;
फिर पूछूँ क्यों मेरे साक़ी !
देते हो मधुमय विषमय क्या ?

रोम रोम में नन्दन पुलकित,
साँस साँस में जीवन शत शत,
स्वप्न स्वप्न में विश्व अपरिचित;
मुझमें नित बनते मिटते प्रिय !
स्वर्ग मुझे क्या, निष्क्रिय लय क्या ?

हारूँ तो खोऊँ अपनापन,
पाऊँ प्रियतम में निर्वासन;
जीत बनूँ तेरा ही बन्धन,
भर लाऊँ सीपी में सागर,
प्रिय ! मेरी अब हार विजय क्या ?

चित्रित तू, मैं हूँ रेखा-क्रम,
मधुर राग तू, मैं स्वरसंगम,
तू असीम, मैं सीमा का भ्रम;
काया छाया में रहस्यमय !
प्रेयसि प्रियतम का अभिनय क्या ?

कैसे सँदेश प्रिय पहुँचाती ?
दृगजल की सित मसि है अक्षय,
मसि प्याली, झरते तारक द्वय,
पल ! पल के उड़ते पृष्ठों पर,
सुधि से लिख श्वासों के अक्षर;
मैं अपने ही बेसुधपन में
लिखती हूँ कुछ, कुछ लिख जाती !

छायापथ में छाया से चल,
कितने आते जाते प्रतिपल;
लगते उनके विभ्रम इंगित,
क्षण में रहस्य, क्षण में परिचित;

मिलता न दूत वह चिर परिचित
जिसको उर का धन दे आती।

अज्ञात पुलिन से उज्ज्वलतर,
किरणें प्रवाल तरणी में भर;
तम के नीलम कूलों पर नित
जो ले आती ऊषा सस्मित;

वह मेरी करुण कहानी में
मुसकानें अंकित कर जाती।

सज केशर पट, तारक बेंदी,
दृग अंजन, मृदु पद में मेंहदी,
आती भर मदिरा से गगरी,
सन्ध्या अनुराग सुहाग भरी;

मेरे विषाद में वह अपने
मधुरस की बूँदें छलकाती!

डाले नव घन का अवगुंठन,
दृग-तारक में सकरुण चितवन;
पदध्वनि से सपने जाग्रत कर,
श्वासों से फैला मूक तिमिर,

निशि अभिसारों में आँसू से
मेरी मनुहारें धो जाती!

मैं बनी मधुमास आली !

आज मधुर विषाद की घिर करुण आयी यामिनी,
बरस सुधि के इन्दु से छिटकी पुलक की चाँदनी,
उमड़ आयी री दृगों में
सजनि कालिन्दी निराली !

रजत स्वप्नों में उदित अपलक विरल तारावली,
जाग सुख पिक ने अचानक मदिर पंचम तान ली,
बह चली निश्वास की मृदु,
वात, मलय निकुंज पाली !

सजल रोमों में बिछे हैं पाँवड़े मधुस्नात से,
आज जीवन के निमिष भी दूत हैं अज्ञात से;
क्या न अब प्रिय की बजेगी,
मुरलिका मधु राग वाली ?
मैं बनी मधुमास आली।

[नीरजा से]

प्रिय ! सान्ध्य गगन,
मेरा जीवन !

यह क्षितिज बना धुँधला विराग,
नव अरुण अरुण मेरा सुहाग,
छाया सी काया वीतराग,
सुधि भीने स्वप्न रँगीले घन !

साधों का आज सुनहलापन,
घिरता विषाद का तिमिर सघन,
सन्ध्या का नभ से मूक मिलन—
यह अश्रुमती हँसती चितवन!

लाता भर श्वासों का समीर,
जग से स्मृतियों का गन्ध धीर,
सुरभित हैं जीवन-मृत्यु-तीर,
रोमों में पुलकित कैरव-वन!

अश्रु मेरे माँगने जब
नींद में वह पास आया;
स्वप्न-सा हँस पास आया!
हो गया दिव की हँसी से
शून्य में सुरचाप अंकित;
रश्मि रोमों में हुआ
निस्पन्द तम भी सिहर पुलकित;
अनुसरण करता अमा का
चाँदनी का हास आया!
वेदना का अग्निकण जब
मोम से उर में गया बस,
मृत्यु-अंजलि में दिया भर
विश्व ने जीवन-सुधा-रस;

मॉँगने पतझार से

हिम-बिन्दु तब मधुमास आया !

अमर सुरभित साँस देकर

मिट गये कोमल कुसुम झर;

रविकरों में जल हुए फिर,

जलद में साकार सीकर;

अंक में तव नाश को

लेने अनन्त विकास आया।

शलभ मैं शापमय वर हूँ !

किसी का दीप निष्ठुर हूँ !

ताज है जलती शिखा

चिनगारियाँ शृंगार-माला,

ज्वाल अक्षय कोष सी

अंगार मेरी रंगशाला;

नाश में जीवित किसी की साध सुन्दर हूँ !

नयन में रह किन्तु जलती

पुतलियाँ आगार होंगी;

प्राण में कैसे बसाऊँ ?

कठिन अग्नि-समाधि होगी;

फिर कहाँ पालूँ तुझे मैं मृत्यु-मन्दिर हूँ !

हो रहे झर कर दृगों से
अग्नि-कण भी क्षार शीतल;
पिघलते उर से निकल
निश्वास वनते धूम श्यामल;
एक ज्वाला के विना मैं राख का घर हूँ!
कौन आया था न जाना
स्वप्न में मुझको जगाने,
याद में उन अँगुलियों के
हैं मुझे पर युग विताने,
रात के उर में दिवस की चाह का शर हूँ!
शून्य मेरा जन्म था
अवसान है मुझको सवेरा,
प्राण आकुल के लिए
संगी मिला केवल अँधेरा;
मिलन का मत नाम ले मैं विरह में चिर हूँ!

[सान्ध्य गीत से]

———

श्रीमती महादेवी वर्मा के ग्रन्थ

काव्य—नीहार, रश्मि, नीरजा, सान्ध्य गीत, यामा,

श्री रामकुमार वर्मा

ये हिन्दी के अध्ययनशील कवि हैं। इन्होंने कबीर के रहस्यवाद का विस्तृत अध्ययन किया है और रहस्यवाद का सिद्धान्त अँगरेज़ी और फ़ारसी साहित्य के आधार पर भी हृदयंगम किया है। इनके इस अध्ययन का परिणाम इनकी कविता पर इतना अधिक पड़ा है कि ये विशुद्ध रहस्यवाद के एक सफल कलाकार हो गये हैं। रहस्यवाद की सूक्ष्म और विविधि प्रवृत्तियों का परिचय श्री रामकुमार की चित्र-रेखा और चन्द्रकिरण से पाया जा सकता है।

इनका शैशव बुन्देलखंड के पार्वतीय प्रदेश में व्यतीत हुआ था। अतः इनकी कविता में प्रकृति का नैसर्गिक जो चित्र है, उसकी वास्तविकता का महत्त्व बहुत अधिक है। इनकी कश्मीर-यात्रा से प्रकृति का चित्र इनकी कविता में निखर आया है। अतः रहस्यवाद के क्षेत्र में ये अपनी भावना की अभिव्यक्ति का प्रधान आधार प्रकृति के दैवी चित्र को ही मानते हैं। रूपराशि और चन्द्रकिरण में प्रकृति जैसे सजीव हो उठी हो।

रामकुमार एकांकी नाटककार भी हैं। इनके इन नाटकों में पात्रों का आन्तरिक संघर्ष विशेष कुशलता के साथ चित्रित किया गया है। इस संघर्ष के साथ इनकी कविता प्रसादजी की कविता के समान

कुछ जटिल अवश्य हो गयी है, पर कुमार की कविता में अभिनयात्मक शैली होने के कारण वह अधिक रोचक हो गयी है। 'शुजा' नामक कविता में यही सौन्दर्य है। कल्पना के क्षेत्र में कुमार की कुशलता में दो निर्णय हो ही नहीं सकते।

कल्पना और अनुभूति का यह कवि हमारे यहाँ विशुद्ध रहस्यवाद का कवि है।

ये गजरे तारों वाले

इस सोते संसार बीच
जग कर, सज कर, रजनी-वाले !
कहाँ बेचने ले जाती हो,
ये गजरे तारों वाले ?

मोल करेगा कौन ?
सो रही हैं उत्सुक आँखें सारी ;
मत कुम्हलाने दो,
सूनेपन में अपनी निधियाँ न्यारी,

निर्झर के निर्मल जल में
ये गजरे हिला हिला धोना;
लहर हहर कर यदि चूमे तो,
किंचित विचलित मत होना।

होने दो प्रतिविम्ब विचुम्बित,
लहरों ही में लहराना ;
'लो मेरे तारों के गजरे'
निर्झर स्वर में यह गाना।

यदि प्रभात तक कोई आकर
तुमसे हाय! न मोल करे,
तो फूलों पर ओस रूप में,
बिखरा देना सब गजरे।

विभूति

मेरे सुख की किरन अमर!
जीवन-बूँदों में से चलकर,
बिखरा इन्द्र-धनुप बन कर।
मेरे नव जीवन बादल में,
रंग सुनहला दोगी भर?
बाला बन कर छू लोगी क्या,
मेरा यह पीड़ित अन्तर?
जब मेरे क्षण सोते होंगे,
अन्धकार के अम्बर पर,
तब तुम प्रथम प्रकाश-ज्योति बन,
उन्हें जगाना चूम अधर।
मेरी आँखों के आँसू के,
बिन्दु बनें नीरव निर्झर,
तब तुम उस धारा पर गिरना,
प्रतिबिम्बित हो कर सत्वर।

मेरे जीवन-नभ के नीचे,

जब हो अन्धकार सागर,

तब तुम धीरे-धीरे से आ

फेनिल सी सजना सुखकर।

मेरे जीवन में जब आवें,

अन्धकार के श्याम प्रहर,

तब तुम खद्योतों में छिपकर,

आ जाना चुपचाप उतर।

मेरे सुख की किरन अमर!

आत्मा की अनन्त स्मृति

कवि, मेरा सूखा सा जीवन,

रहने दो तुम सूना;

रहो दूर, मेरे सुख दुख की,

स्मृतियाँ तुम मत छूना।

रंगों से मत भरो चित्र,

धुँधली रहने दो रेखा;

मेरे सूखे से थल में

किसने गंगा-जल देखा?

गीत-विहँग क्यों उड़े, अभी है मौन अँधेरा मेरा,

हाय! न जाने कहाँ सो रहा, स्मृति-संगीत-सवेरा?

ओसों के अक्षर से अंकित
कर दूँ व्यथा-कहानी,
उसमें होगा मेरी आँखों—
के मोती का पानी।
उसे न छूना, रह जावेगी
मेरी कथा अधूरी,
कैसे पार करूँगी फिर मैं,
हृदय-अपरिचित दूरी ?

सुख की नहीं, किन्तु दुख ही की बनी रहूँगी रानी,
मेरे मन ही में रहने दो, मेरी करुण कहानी।

अन्धकार का अम्बर पहने
रात बिता दूँ सारी;
दीप नहीं, तारक-प्रकाश में,
खोजूँ स्मृति-निधि न्यारी।
ओस सदृश अवनी पर बिखरा—
कर यह यौवन सारा
किसी किरण के हाथ समर्पित
कर दूँ जीवन प्यारा।

तब तक यह सूखा सा जीवन रहने दो तुम सूना,
रहो दूर, मेरे सुख-दुख की, स्मृतियाँ तुम मत छूना।

—— ——

समय शान्त है, मौन तपस्वी-सा, तप में लवलीन,
रात्रि मुझे तो दिन ही है, केवल दिनकर से हीन;
नभ के पद पर धरा पड़ी है, यह है चिर अभिशाप,
तारे अपना हृदय खोल दिखलाते हैं सन्ताप।

प्रेयसि! जग है एक,
भटकता शून्य स-तम अज्ञात;
एक ज्योति-सी उठो,
गिरो पथ-पथ पर बन कर प्रात।

मैं तुमसे मिल सकूँ, यथा उर से सुकुमार दुकूल,
समय-लता में खिले मिलन के दिन का उत्सुक फूल;
मेरे बाहु-पाश से वेष्टित हो यह मृदुल शरीर,
चारों ओर स्वर्ग के होगा पृथ्वी का प्राचीर।

नभ के उर में विमल नीलिमा
शयित हुई सुकुमार,
उसी भाँति तुमसे निर्मित हो,
मेरा उर-विस्तार।

———

निर्जन वन के बीच, शब्द से बहुत दूर—उस पार,
जहाँ पहनती है पृथ्वी चुपचाप क्षितिज का हार,
दिन में है सूना प्रकाश, निशि में तम का विस्तार,
इन दोनों से ही निर्मित है एक शून्य संसार।

प्रातः पवन एक रोगी-सा,
तजता है उच्छ्वास;
वहाँ किस तरह तुम, ओ प्रेयसि!
बना चुकीं अधिवास ?
वहाँ ग्रीष्म है, ज्वालाओं का भीषण हाहाकार!
वर्षा में नभ से भू पर गिरता है पारावार;
शीत काल हिम से निर्मित है जग ही है नीहार;
यह अचेत भू-खंड जहाँ ये तीन स्वप्न प्रतिवार—
आते हैं लेकर अपना-
अपना नीरस आकार।
किस प्रकार, ओ प्रेयसि! रखती
हो यह जीवन-भार ?
मैं उत्सुक हूँ, लिये हुए हूँ, नभ-सा उर-विस्तार,
क्या वसन्त-सा सुखद नहीं है मेरा विकसित प्यार ?
वायु नहीं क्या साँस ? भूलता है जिसमें यह नाम,
तुमको पाने का प्रयत्न-श्रम है मेरा विश्राम!
आओ आज स्वर्ग-पृथ्वी—
मिल कर हो जावें एक!
मेरे उर का आज तुम्हारे—
उर से हो अभिषेक!

मैं तुम से मिल गया प्रिये !
यह है जीवन का अन्त ;
इसी मिलन का गीत कोकिले !
गा जीवन - पर्यन्त;

सुमन मधुप को बुला-बुला कर,
देंगे यह सम्वाद—
'कलियाँ कल जागेंगी लेकर,
इसी मिलन की याद।'

प्राची के बिखरे सब बादल,
बदल-बदल कर रूप,
किरण-साँस में बतला देंगे,
मेरा मिलन अनूप।

इस संसार विविर में है
अति लघु प्राणों का वास;
सुख-दुख के दो कोण,
उन्हीं में रुदन और है हास।

इसके परिमित पल में है—
इस जीवन का उपहास;
एक दृष्टि में जन्म, दूसरी—
में है करुण प्रवास।

यह संसार शिशिर है—
तुम हो विश्वाकार वसन्त,
मैं तुमसे मिल गया प्रिये!
यह है यात्रा का अन्त।

[रूप राशि से]

अशान्त

नश्वर स्वर से कैसे गाऊँ,
आज अनश्वर गीत?
जीवन की इस प्रथम हार में,
कैसे देखूँ जीत?
उषा अभी सुकुमार, क्षणों में—
होगी वही स-तेज;
लता बनेगी ओस-बिन्दु की
सरल मृत्यु की सेज!
सकता है कौन, देखता हूँ मैं भी चुपचाप;
किसका गायन बने, न जाने मेरे प्रति अभिशाप?
क्या है अन्तिम लक्ष्य—
निराशा के पथ का?—अज्ञात!
दिन को क्यों लपेट देती है
श्याम वस्त्र में रात

और काँच के टुकड़े बिखरा
कर, क्यों पथ के बीच,
भूले हुए पथिक-शशि को, दुख
देता है नभ नीच ?

यहाँ निराशामय उलझन है, क्या माया का जाल ?
यहाँ लता में लिपटा रहता, छिपकर भीषण व्याल !

देख रहा हूँ वहुत दूर पर
शान्ति-रश्मि की रेख,
उस प्रकाश से मैं अशान्त—तम
ही सकता हूँ देख;

काँप रही स्वर अनिल-लहर
रह रह कर अधिक सरोष;
डर कर निरपराध मन अपने—
ही को देता दोष !

कैसा है अन्याय ? न्याय का स्वप्न देखना पाप;
मेरा ही आनन्द बन रहा, मेरा ही सन्ताप !

हास्य कहाँ है ? उस में भी है
रोदन का परिणाम;
प्रेम कहाँ है ? घृणा उसी में
करती है विश्राम ;

दया कहाँ है ? दूषित उसको
करता रहता रोप;
पुण्य कहाँ है ? उसमें भी तो
छिपा हुआ है दोप;

धूल हाय ! बनने ही को खिलता है फूल अनूप;
वह विकास है मुरझा जाने ही का पहला रूप !

मेरे दुख में प्रकृति न देती
क्षण भर मेरा साथ,
उठा शून्य में रह जाता है,
मेरा भिक्षुक हाथ;

मेरे निकट शिलाएँ, पाकर
मेरा श्वास-प्रवाह,
बड़ी देर तक गुंजित करती
रहतीं मेरी आह;

'मर ! मर !' शब्दों में हँसकर, पत्ते हो जाते मौन;
भूल रहा हूँ स्वयम्, इस समय मैं हूँ जग में कौन ?

वह सरिता है, चली जा रही—
है चंचल अविराम
थकी हुई लहरों को देते,
दोनों तट विश्राम ;

मैं भी तो चलता रहता हूँ
निशिदिन आठों याम;
नहीं सुना मेरे भावों ने,
'शान्ति-शान्ति' का नाम।
लहरों को अपने अंगों में तट कर लेता लीन;
लीन करेगा कौन ? अरे, यह मेरा हृदय मलीन !

कंकाल

क्या शरीर है ? शुष्क धूल का—
थोड़ा सा छवि जाल,
इस छवि में ही छिपा हुआ है
वह भीषण कंकाल !
उस पर इतना गर्व ? अरे,
इतने गौरव का गान,
थोड़ी-सी मदिरा है, उस पर,
सीखा है बलिदान !
मदमाती आँखों वाले, ओ ! ठहर अरे नादान !
एक-फूल की माला है, उस पर इतना अभिमान !
इस यौवन के इन्द्र-धनुष में
भरा वासना रंग,
काले बादल की छाया में,
सजता है यह ढंग;

और उमंगों में भूला है,
बन कर एक उमंग,
एक टूटता-स्वप्न आँख में
कहता उसे 'अनंग'—

वह 'अनंग' जो धूल-कणों में भरता है उन्माद,
जर्जरपन में ले आता है नव यौवन की याद।

और (याद आया अब)—
मृगनयनी का नयन-विलास;
सोती और लजाती थी—
चितवन कानों के पास;

कलित कपोलों की कोरों पर—
भर ऊषा का रंग,
पैना तीर चला चितवन का,
करती थी भ्रू—भंग;

मैंने देखा था उसमें, गिरते-फूलों का हास;
सन्ध्या के काले अम्बर में मिटता अरुण विकास।

दूर ! दूर !! मत भरो कान में
वह मतवाला राग,
यही चाहते हो, मैं कर लूँ
इस जग से अनुराग?

गिरते हुए फूल से करलूँ
क्या अपना शृंगार ?
करने को कहते हो मुझसे,
निश्चल शव से प्यार ?

गिन डालू कितनी आहों में अपने मन के भाव ?
पथराई आँखों से कैसे देखूँ विषका स्राव ?

अरे, पुण्य की भाषा में तुम
क्यों कहते हो पाप ?
क्षणिक सुखों की नींवों पर
क्यों उठा रहे सन्ताप ?

सुमन-रंग से किस आशा पर
करते अमर विहार ?
ओस-कणों में देख रहे—
सारे नभ का शृंगार ?

प्यार-प्यार क्यों प्यार कर रहे नश्वरता से प्यार ?
यहाँ जीत में छिपी हुई है इस जीवन की हार।

मृत्यु वही है, जिसमें होती,
जीवित क्षण की हार;
वे ही क्षण क्यों भाग रहे हैं,
वर्तमान के पार ?

मेरे आगे ही, मेरे
जीवन का नाश विलास,
झाँक शुष्कता रही चोर-सी,
हृदय-सुमन के पास;

जीवन आभा बनती जाती दिन-दिन अधिक मलीन,
अन्धकार में भी बनता हूँ मैं लोचन से हीन।

भूल रहा हूँ पाकर स्मृति की
चंचल एक हिलोर,
देख रहा हूँ मैं जीवन के
किसी दूसरी ओर;

हाँ, वह यौवन-लाली करती
जीवन - सुमन - विहार,
मादकता में धूल कणों से—
भी करती थी प्यार;

शुष्क पत्तियों से करती थी आलिंगन का हाव;
मतवाले बन कर आते थे, मनके नीरस भाव।

काले भावों की रजनी में
आशा का अभिसार,
मैंने छिप कर देखा था,
देखा था कितनी बार!

उनका आना और समुत्सुक—
मेरे मन का प्यार,
दोनों भाव बना देते थे
लज्जित लोचन चार,

किन्तु, मुझे क्या मिलता था ? क्या बतला दूँ उपहार ?
शीतल ओठों का मुरझाया-सा चुम्बन उस बार।

उत्सुकता के बदले में यह
भीषण अत्याचार।
घृणा, घृणा शत जिह्वा से
डसती थी बारम्बार ;

आँखों की मदिरा का बन जाना
आँसू की धार,
बाहु-पाश का शक्ति-हीन हो
गिरना धनुपाकार ;

यह था क्या उपहार, अरे इस जीवन का उपहार !
फूल-रूप क्यों रखता है यह धूल-रूप संसार ?

छविमय कहते हो जिसको
जिसमें है रूप अपार,
हाय ! भरा है उसमें कितने,
पापों का संसार !

पहिन रहे हो हार,
उसी में भूल रही है हार;
पुण्य मान कर क्यों करते हो,
इन पापों से प्यार ?
मुझे न छूना, जतलाओ मत अपना झूठा प्यार,
धूल समझ कर छोड़ चुका हूँ यह कलुषित संसार।

[अभिशाप से]

देव, मैं अब भी हूँ अज्ञात ?
एक स्वप्न बन गयी तुम्हारे प्रेम-मिलन की बात।
तुमसे परिचित होकर भी मैं
तुमसे इतनी दूर !
बढ़ना सीख सीख कर मेरी
आयु बन गयी क्रूर !
मेरी साँस कर रही मेरे जीवन पर आघात। देव मैं...
यह ज्योत्स्ना तो देखो, नभ की
बरसी हुई उमंग,
आत्मा-सी बन कर छूती है
मेरे व्याकुल अंग;
आओ, चुम्बन-सी छोटी है यह जीवन की रात।
देव, मैं अब भी हूँ अज्ञात ?

गीत

मैं भूल गया यह कठिन राह।
इस ओर एक चीत्कार उठा, उस ओर एक भीषण कराह;
मैं भूल गया यह कठिन राह।
कितने दुख बनकर विकल साँस,
भरते हैं उर में बार बार;
वेदना हृदय बन तड़प रही,
रह रह कर करती है प्रहार।
यह निर्झर मेरे ही समान,
किस व्याकुल की है अश्रु धार?
देखो, यह मुरझा गया फूल,
जिसको कल मैंने किया प्यार;
रवि शशि ये बहते चले कहाँ, यह कैसा है भीषण प्रवाह?

भू ा गया यह कठिन राह।

किसने मरोड़ डाला बादल?
जो सजा हुआ था सजल वीर!
केवल पल भर में दिया हाय!
कितने विद्युत् का हृदय चीर?

इतना विस्तृत होने पर भी
क्यों रोता है नभ का शरीर ?
वह कौन व्यथा है जिस कारण
है सिसक रहा तरु में समीर ?
इस विकल विश्व में भी, बोलो, क्यों मेरे मन में उठी चाह ?
मैं भूल गया यह कठिन राह।

वारिधि के मुख में रखी हुई
यह लघु पृथ्वी है एक ग्रास ;
जिसमें रोदन है कभी, या कि
रोदन के स्वर में अट्टहास;
है जहाँ मृत्यु ही शान्ति और
जीवन है करुणामय प्रवास ;
वयके प्याले में क्षण-क्षण के कण
बढ़ा रहे हैं अधिक प्यास।
दो बूँदों में ही जहाँ समझ पड़ती सागर की अगम थाह।
मैं भूल गया यह कठिन राह।

यह नव बाला है, नारि वेष—
रख कर आया है क्या वसन्त ?
जिसकी चितवन से पंचबाण
निकला करते हैं बन अनन्त,
जिसकी करुणा की दृष्टि विश्व
संचालित कर देती तुरन्त;

उसके जीवन का, एक बार के
क्षुद्र प्रणय में व्यथित अन्त !
यह छल है, निश्चय छल ही है, मैं कैसे समझूँ इसे आह !
मैं भूल गया यह कठिन राह।

रजनी का सूनापन विलोक
हँस पड़ा पूर्व में चपल प्रात;
यह वैभव का उत्पात देख
दिन का विनाश कर जगी रात;
यह प्रतिहिंसा है एक ओर
दूसरी ओर विपरीत बात;
नभ छूने को पर्वत स्वरूप
है उठा धरा का पुलक गात।
है एक साँस में प्रेम, दूसरी साँस दे रही विषम दाह।
मैं भूल गया यह कठिन राह।

ओसों का हँसता बाल-रूप
यह किसका है छविमय विलास ?
विहगों के कंठों में समोद
यह कौन भर रहा है मिठास ?
सन्ध्या के रंगों में मलीन
यह कौन हो रहा है उदास ?
मेरी उच्छ्वासों के समीप
कर रहा कौन छिप कर निवास ?

अब किसी ओर चीत्कार न हो, मैं कहूँ न अब दुख से कराह !
मैं भूल गया यह कठिन राह

फैला है नीला आकाश।
सुरभि, तुम्हें उर में भरने को
फैला है इतना आकाश !
तुम हो एक साँस सी सुखकर,
नभमंडल है एक शरीर ;
यह पृथ्वी मधुमय यौवन है,
तुम हो उस यौवन की पीर।
पथ बतला देना तारक—
दीपक का दिखला नवल प्रकाश ,
सुरभि, तुम्हें उर में भरने को
मैं फैलूँगा बन आकाश।

आज केतकी फूली ;
नभ के उज्ज्वल तारों से हो
निर्मित जग में भूली।
आज केतकी फूली।
अन्तरिक्ष का बिखरा वैभव पृथ्वी में संचित है;
इसीलिए यह कलिका नभ-छवि से भू पर कुसुमित है;

पवन चूम जाता है, मेरी इच्छा से परिचित है,
इस मिलाप में ही सारे जीवन का सुख अंकित है।
मैंने आज प्रेम की उँगली से
वह चिर छवि छू ली।
आज केतकी फूली।

······पर तुम मेरे पास न आये।

देखो, यह खिल उठी जुही
यौवन के विकसित अंग छिपाये;
निराकार प्रेमी समीर
आया है सौरभ साज सजाये;
मैंने कितनी बार साँस के
शत सन्देश स्वयम् दुहराये;
तारे हैं अपने दृग-तारों
की धाराओं पर तैराये;
······पर तुम मेरे पास न आये।

कोकिल की कोमल पुकार ने
पुष्प-शरीर वसन्त बुलाये;
उषा-चाल की प्रभा देख
बादल ने कितने वेष बनाये?

मैंने कितने रूप रखे, पर
क्या न तुम्हें वे कुछ भी भाये ?
जीवन में साँसों की गति से
कितनी हूँ मैं व्यथा छिपाये !
......पर तुम मेरे पास न आये।

———

इस भाँति न छिप कर आओ।
अन्तिम यहीं प्रतीक्षा मेरी,
इसे भूल मत जाओ। इस भाँति...
रजनी के विस्तृत नभ को जब मैं दृग में भर लेता,
एक एक तारे को कितने भावयुक्त कर देता !
उसी समय खद्योत एक आता वातायन द्वारा
मैं क्या समझूँ, मुझे मिला उज्ज्वल संकेत तुम्हारा !
प्रियतम ! मेरी स-तम निशा ही को
शशि-किरण बनाओ। इस भाँति...
वह उपवन फूला, पर उसमें बोलो शान्ति कहाँ है ?
सुमन खिले, मुरझाये, सूखे, गिरे, वसन्त यहाँ है ?
नहीं, मृत्यु ने यहाँ परिधि में बाँधा है जीवन को,
सुख तो सेवक बन रक्षित रखता है दुख के धन को।
प्रियतम ! शाश्वत जीवन बन,
मन में तो आज समाओ। इस भाँति...

———

यह तुम्हारा हास आया

यह तुम्हारा हास आया।
इन फटे से बादलों में,
कौन सा मधुमास आया?
आँख से विचलित व्यथा के
दो बड़े आँसू बहे हैं,
सिसकियों में वेदना के व्यूह—
ये कैसे रहे हैं?
एक उज्ज्वल तीर सा रवि—
रश्मि का उल्लास आया। यह...
आह! वह कोकिल न जाने—
क्यों हृदय को चीर रोयी?
एक प्रतिध्वनि सी हृदय में,
क्षीण हो हो हाय! सोयी!
किन्तु, इससे आज मैं—
कितने तुम्हारे पास आया!
यह तुम्हारा हास आया।

[चित्ररेखा से]

परिचय

मैं तुम्हारे नूपुरों का हास।
चरण में लिपटा हुआ,
करता रहूँ चिर वास।
मैं तुम्हारी मौन गति में,
भर रहा हूँ राग;
बोलता हूँ यह जताने,
हूँ तुम्हारे पास।
चरण-कम्पन का तुम्हारे
हृदय में मृदु भाव—
कर रहा हूँ मैं तुम्हारे
कंठ का अभ्यास।
हूँ तुम्हारे आगमन का
पूर्व लघु सन्देश;
गति रुकी, तो मौन हूँ,
गति में अखिल उल्लास।
मैं चरण ही में रहूँ,
स्वर के सहित सविलास,
गति तुम्हारी ही बने,
मेरा अटल विश्वास।

किरण-कण

एक दीपक-किरण-कण हूँ ।

धूम्र जिसके क्रोड़ में है, उस अनल का हाथ हूँ मैं ;
नव-प्रभा लेकर चला हूँ, पर जलन के साथ हूँ मैं ;
सिद्धि पाकर भी तपस्या-साधना का ज्वलित क्षण हूँ ।
एक दीपक-किरण-कण हूँ ।

व्योम के उर में अगाध भरा हुआ है जो अँधेरा,
और जिसने विश्व को दो बार क्या, सौ बार घेरा,
उस तिमिर का नाश करने के लिए मैं अखिल प्रण हूँ ।
एक दीपक-किरण-कण हूँ ।

शलभ को अमरत्व देकर, प्रेम पर मरना सिखाया,
सूर्य का सन्देश लेकर, रात्रि के उर में समाया,
पर तुम्हारा स्नेह खोकर भी तुम्हारी ही शरण हूँ ।
एक दीपक-किरण-कण हूँ ।

जिज्ञासा

नीरव निशा, हो श्रान्त तुम ?
तिमिर चारों ओर है ? ना
भाग्य है मेरा यही ;
क्योंकि तुम चुप हो, यही
विचलित व्यथा मैंने सही ।

वह उड़ा खद्योत आशा के
प्रकाशित विन्दु-सा,
और शीतल साँस-सी
यह वायु चुप होकर वही;
मैं तुम्हारे पास हूँ,
फिर भी वनी हो क्लान्त तुम,
नीरव निशा, हो श्रान्त तुम।
क्या विरह की अवधि मानूँ
यह समस्त विभावरी?
यह गगन-गंगा समझ लूँ
आँसुओं से है भरी?
ये निशा के प्रहर मानो
वेदना के वन्धु हैं;
हो रहे प्रतिक्षण भयानक
और भीषण सुन्दरी!
मौन होता हूँ, कहो,
अव भी रहोगी शान्त तुम?
नीरव निशा, हो श्रान्त तुम।

प्रार्थना

मेरे जीवन में एक बार
तुम देखो तो अनुपम स्वरूप ;
मैं तुम में प्रतिविम्बित होऊँ,
तुम मुझ में होना ओ अनूप !

राका-शशि अपनी रश्मि-माल
जब रजनी को पहनाता हो ,
अथवा जब फूलों के तन से
प्रेयसि सुगन्धि का नाता हो ,

जब विमल ऊर्मि में लघु बुद्बुद्
उल्लास-पीन लहराता हो ,
जब तरु से लतिका का अन्तर
मधु-ऋतु में कम हो जाता हो,

उस समय हँसो, तो बरस पड़े
ओसों में विश्वों का स्वरूप;
मैं तुम में प्रतिविम्बित होऊँ,
तुम मुझ में होना ओ अनूप !

[चन्द्र किरण से]

———

श्री रामकुमार वर्मा के ग्रन्थ

काव्य— चित्तौड़ की चिता, अंजलि, रूपराशि, चित्ररेखा, चन्द्रकिरण, निशीथ, हिमहास (अप्रकाशित)

नाटक— पृथ्वीराज की आँखें, १८ जुलाई की शाम।

संग्रह— कबीर पदावली, हिन्दी गीतिकाव्य।

आलोचना— साहित्य समालोचना, कबीर का रहस्यवाद, हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास।

———

श्री भगवतीचरण वर्मा

ये छायावाद के अधिक स्पष्ट कवि हैं। यद्यपि इनकी कविता में आध्यात्मिक संकेत नहीं है, तथापि उसमें जीवन के रहस्य बहुत व्यापकता के साथ स्पष्ट किये गये हैं। जीवन का जितना भी उन्मेष, जितना भी वेग और आतंककारी जितना भी रौद्र रूप है, वह सभी अपने भीषण और नग्न रूप में भगवतीचरण की कविता में सजीव हो उठा है। जीवन में आग लगाने की प्रवृत्ति, संसार को प्रलयधार से बहा देने की भावना, इनकी कविता में अनेक बार मिलती है, क्योंकि जीवन और संसार दोनों ही छल और प्रवंचना हैं। 'मानव' और 'बादल' कविताएँ इस भाव को स्पष्टता के साथ चित्रित करती हैं। अतः संसार को मज़बूती के साथ पकड़ने वाले, कवि भगवतीचरण आध्यात्मिक कवि हैं ही नहीं।

भगवतीचरण गीति-काव्य में भी सफल हुए हैं। प्रेम संगीत में प्रेम की अभिव्यक्ति बड़ी हृदय-ग्राही हैं। संसार की सारी पहेली इसी प्रेमसंगीत में सुलझी हुई है। प्रेमी अपनी प्रेमाभिव्यक्ति में इस संसार की कोमल और परुष भावनाओं को एक साथ स्पर्श कर हमें प्रेम से आन्दोलित कर देता है। इनकी 'प्रिये' भौतिक संसार की स्त्री है, वह इनकी प्रेमिका है। उसमें कोई आध्यात्मिक संकेत खोजना व्यर्थ है।

भगवतीचरण जी सफल कहानी-लेखक भी हैं। किसी घटना को किस प्रकार हृदयग्राही बनाना चाहिए, इस बात को ये ख़ूब जानते हैं। 'नूरजहाँ की क़ब्र पर' में एक कहानी की तरह नूरजहाँ का पिछला जीवन स्पष्ट हो आता है। प्रबन्धात्मकता में वर्मा जी सफल हैं, किन्तु एक बात है—उस प्रबन्धात्मकता में वर्मा जी दार्शनिकता का पुट देने का प्रयत्न करते हैं। जहाँ यह दार्शनिकता कुछ अधिक हुई कि कवि उपदेशक बन जाता है और उसकी कृति का सारा महत्त्व खो जाता है। वह दार्शनिकता 'खैयाम' से मिलती-जुलती रहती है।

जहाँ वे 'दर्शन' का दर्शनमात्र कराते हैं, वहाँ वे सफल कवि हैं।

मेरी आग

निज उर की वेदी पर मैंने महा यज्ञ का किया विधान,
समिधि बना कर ला रक्खे हैं चुन-चुन कर अपने अरमान,
अभिलाषाओं की आहुतियाँ ले आया हूँ आज महान,
और चढ़ाने को आया हूँ अपनी आशा का बलिदान;
अभिमन्त्रित करता है उसको इन आहों का भैरव राग;
जल उठ! जल उठ! अरी धधक उठ! महानाश सी मेरी आग।

आमन्त्रित हैं यहाँ कसक से क्रीड़ाएँ करने वाले,
हृदय-रक्त से निज वैभव के प्यालों को भरने वाले,
जीवन की अतृप्त तृष्णा से तड़प-तड़प मरने वाले,
अन्धकार के महा उदधि में अन्धों से तरने वाले;
फूल चढ़ाने वे आये हैं जिनमें मिलता नहीं पराग;
जल उठ! जल उठ! अरी धधक उठ! महानाश सी मेरी आग।

इस उत्सव में आन जुटे हैं हँस-हँस बलि होने वाले,
निज अस्तित्व मिटा कर पल में तन-मन-धन खोने वाले,
उर की लाली से इस जग की कालिख को धोने वाले,
हँसने वालों के विषाद पर जी भर कर रोने वाले,
आज आँसुओं का घृत लेकर आया है मेरा अनुराग;
जल उठ! जल उठ! अरी धधक उठ! महानाश सी मेरी आग!

यहाँ हृदय वालों का जमघट पीड़ाओं का मेला है,
अर्घ्यदान है अपनेपन का, यह पूजा की वेला है;
आज विस्मरण के प्रांगण में जीवन की अवहेला है.
जो आया है यहाँ प्राण पर वह अपने ही खेला है;
फिर न मिलेंगे ये दीवाने, फिर न मिलेगा इनका त्याग;
जल उठ ! जल उठ ! अरी धधक उठ ! महानाश सी मेरी आग !

लपटें हों विनाश की जिनमें, जलता हो ममत्व का ज्ञान,
अभिशापों के अंगारों में झुलस रहा हो विभव विधान,
अरे क्रान्ति की चिनगारी से तड़प उठे वासना महान,
उच्छ्वासों के धूम्र-पुंज से ढक जावे जग का अभिमान;
आज प्रलय की वह्नि जल उठे, जिसमें शोला बने विराग;
जल उठ ! जल उठ ! अरी धधक उठ ! महानाश सी मेरी आग !

नूरजहाँ की क़ब्र पर

तुम रजकण के ढेर, उलूकों के तुम भग्न विहार !
किस आशा से देख रहे हो उस नभ पर प्रतिवार ?
कि जिससे टकराता था कभी
तुम्हारा उन्नत भाल ?
सुनते हैं, तुमने भी देखा था वैभव का काल,
धूल में मिले हुए कंकाल !

तुम्हारे संकेतों के साथ
नाचता था साम्राज्य विशाल ;
तुम्हारा क्रोध और उल्लास
बिगड़ते बनते थे भूपाल ;
किन्तु है आज कहानी शेष,
प्रबल है प्रबल काल की चाल !

एक समय पर्वत-मालाओं की प्रतिध्वनि के साथ
तुम रोयी थीं प्रथम नमा कर, उस भू पर निज माथ,
कि जिस पर था सगर्व आरूढ़
तुम्हारा गुरुतर भार !
जीवन के पहले ही क्षण में वह जीवन की हार !
पतन ही है जीवन का सार !

तुम्हारा प्यारा शैशव काल !
स्वर्ग की सुषमा का आगार !
ज्ञान के धुँधलेपन से शून्य
किलकने हँसने के दिन चार,
भाग्य की देवि ! भाग्य का तुम्हें
वही तो था सारा उपहार !

देखे थे सुख-मयी कल्पना के शत-शत प्रासाद;
पुलकित नयनों से देखा था तुमने वह आह्लाद
कि जिसको फिर पाने के लिए
रहीं रोती दिन रात !
क्षणिक प्रभा थी, था भविष्य का अन्धकार अज्ञात,
आह बचपन के सुखद प्रभात !

दूसरों के हँसने के साथ
पुलक उठता था सारा गात;
छलकता था नयनों में नीर
किसी पर यदि होता आघात;
वासना, तृष्णा, ईर्ष्या, डाह,
कहो क्या थे पहले भी ज्ञात ?

लाड़ प्यार में तुम बढ़ती थीं—कहाँ ? किधर ? किस ओर ?
अरे, विश्व के उस वैभव का मिलता ओर न छोर
कि जिसके एक अंश तक की
न ले पायीं तुम थाह !
बहता है संसार, वासना का है तीव्र प्रवाह,
देवि यह जीवन ही है चाह !

तुम्हारे आशा के सुख-स्वप्न,
तुम्हारे वे उमंग उत्साह,
तुम्हारी मधुर मन्द मुसकान,
तुम्हारे भोले भाव अथाह,
हो गये क्षण भर में ही लोप,
हँसी बन गयी पलक में आह !

उस दिन पीले हुए तुम्हारे जब हल्दी से हाथ,
बँधीं प्रणय के उस बन्धन में जब तुम पति के साथ
कि जिसमें बँधता है संसार
किस प्रतीक्षा के साथ !
भय, संकोच, प्रेम, लज्जा थे, हँसते थे रतिनाथ,
दृष्टि नीची, था ऊँचा माथ !

प्रेम का प्रथम प्रणय-चुम्बन
पाश डाले थे कोमल हाथ,
और वह आलिंगन, कम्पन,
कोकिला थी ऋतुपति के साथ !
मन्द स्वर में सगर्व सोल्लास
कहा था तुमने 'जीवन-नाथ !'

प्रेम किया था उस चातक सा, बुझी न जिसकी प्यास !
अरे सुधा के उन प्यालों का है विचित्र इतिहास
कि जो होठों से लगते ही
छलक जाते हैं हाय !
इच्छाएँ हैं प्रबल, किन्तु हैं असफल सकल उपाय;
भटकते हैं हम सब असहाय !

परिस्थितियों की विस्तृत परिधि,
प्रेरणाओं का है समुदाय,
गिरे नीचे नीचे दिन-रात,
क्षणिक हैं सारे क्षीण उपाय,
सुधा के हैं थोड़े से बूँद
हाथ हैं अस्थिर चंचल हाय !

अरुण कपोलों में रस था, अधरों में अमृत-बोल !
तुम्हें ज्ञात भी था उन आँखों की मदिरा का मोल ?
कि जिनकी कुछ रेखाएँ लाल
हृदय उठता है काँप !
बना भृकुटियों का बाँकापन यौवन का अभिशाप,
शेष है अब तक वही प्रलाप !

नीरव थी प्राणों की पुकार
मूर्छित जीवन सर निस्तरंग, नीहार घिर रहा था अपार;
निस्तब्ध अलस बन कर सोयी, चलती न रही चंचल बयार;
पीता मन मुकुलित कंज आप, अपनी मधु बूँदें मधुर मौन;
निस्वन दिगन्त में रहे रुद्ध, सहसा बोले मनु, "अरे कौन ?
आलोकमयी स्मिति चेतनता आयी यह हेमवती छाया ?"
तन्द्रा के स्वप्न तिरोहित थे, बिखरी केवल उजली माया;
वह स्पर्श दुलार पुलक से भर, बीते युग को उठता पुकार।
वीचियाँ नाचतीं बार बार।

प्रतिभा प्रसन्न मुख सहज खोल
वह बोली, "मैं हूँ इड़ा, कहो तुम कौन यहाँ पर रहे डोल ?"
नासिका नुकीली के पतले पुट फरक रहे कर स्मित अमोल,
"मनु मेरा नाम सुनो बाले ! मैं विश्व पथिक सह रहा क्लेश।"
"स्वागत ! पर देख रहे हो तुम, यह उजड़ा सारस्वत प्रदेश ?
भौतिक हलचल से यह चंचल हो उठा देश ही था मेरा;
इसमें अब तक हूँ पड़ी इसी आशा से आये दिन मेरा।"

× × × ×

"मैं तो आया हूँ देवि, बता दो जीवन का क्या सहज मोल,
भव के भविष्य का द्वार खोल।"

तृष्णा ! तृष्णा ! आह रक्त से रंजित तेरे हाथ !
विश्व खेलता है पागल सा उन पापों के साथ
कि जिनके पीछे ही है लगा
विषम रौरव का जाल।
मिटा भाग्य सिन्दुर तुम्हारा, रिक्त हो गया भाल,
प्रेम ही बना प्रेम का काल !

आह अनजान-शेर अफ़गन !
तुम्हारा सुख-साम्राज्य विशाल—
कौन सा था वह गुरु-अपराध ?
—नष्ट हो समा गया पाताल !
प्रेम का था कैसा उपहार !
मृत्यु बन गयी गले की माल !

तुम रोयी थीं, भाग्य हँसा था, था अद्भुत व्यवहार !
'आह शेर अफ़गन !' गूँजी थी वह सकरुण चीत्कार
कि जिससे हृदय रक्त मिलकर
बना नयनों का नीर।
तुम समझी थीं रुक न सकेगी यह सरिता गम्भीर
किन्तु था निर्बल हृदय अधीर !

आह वह पतिघातक का प्यार !
वासना का उन्माद गँभीर।
कसक का भी होता है अन्त,
क्षणिक है सदा वेदना पीर,
कठिन है कठिन आत्म-बलिदान,
कठिन हैं ये मनसिज के तीर !

एक परिधि है उद्गारों की, परिमित है परिताप !
मिट जाती है हृदय-पटल से वह स्मृति-छाया आप
कि जिसका पाँच वर्ष तक देवि
किया तुमने सन्मान।
उस अशान्ति की हलचल को करने को अन्तर्धान
किया आकांक्षा का आह्वान !

बनीं उस दिन सम्राज्ञी और
हुआ तुमको तृष्णा का ज्ञान;
आह ! वह आत्म-समर्पण, हार !
उसी दिन लोप हो गया मान।
उसी दिन तुमने पल में किया
पतन रूपी मदिरा का पान।

'और ! और !' की ध्वनि प्रतिध्वनि है, 'और ! और ! कुछ और !'
तृप्ति असम्भव है, चलने दो उन प्यालों के दौर
कि जिनके पीने ही के साथ
धधक उठती है प्यास !
झुक-झुक पड़ते हैं पागल से, आह क्षणिक उल्लास —
आत्म-विस्मृति का यह उपहास !

महत्त्वाकांक्षा ! उफ़ उन्माद !
हुआ जिसको तेरा आभास,
उठा ऊँचे बन कर उत्साह,
गिरा नीचे बन कर निःश्वास !
पराजय की सीढ़ी है विजय
अरे भ्रम है, भ्रम है विश्वास !

धरा धसकती थी, असह्य था देवि तुम्हारा भार;
उन कोमल चरणों के नीचे था समस्त संसार
कि जिनमें चुभते थे तत्काल
फूल भी बन कर शूल !
सम्राज्ञी थीं, किन्तु दैव था क्या तुम पर अनुकूल ?
यहीं तो थी जीवन की भूल ।

शक्ति की स्वामिनि! भोग विलास
सदा है सुख वैभव का मूल,
किन्तु खुल गयी अचानक आँख,
प्रकृति ही है इसके प्रतिकूल,
आजकल! आह् क्षणिक ऐश्वर्य!
हुए सुख-स्वप्न सभी निर्मूल!

उच्च शिखर था आकांक्षा का, नीचे था अज्ञात!
खेल रहा था वहाँ परिस्थिति का वह झंझावात
कि जिसके चक्कर में पड़कर
विजय बन जाती व्यंग।
तुम्हें गर्व था उस यौवन पर, था अनुकूल अनंग,
आह् दीपक पर मुग्ध पतंग!

अचानक पल भर में ही देवि!
लोप हो गया सकल रस-रंग;
झुक गया माथ, गिर पड़ा मुकुट,
व्यर्थ हो गया भृकुटि सारंग;
गिराया जहाँगीर को, किन्तु
गिरीं तुम भी तो उसके संग!

"गिर सकती हो!" क्या इसका भी था तुमको अनुमान ?
एक कल्पना की छाया है यह सारा अभिमान
कि जिससे प्रेरित होकर देवि !
बनीं तुम निपट निशंक।
उठते गिरते ही रहते हैं राजा हों या रंक !
अमिट हैं ये विधिना के अंक !;

अरे दो ही हिचकी की बात—
हृदय में समा गया आतंक;
रुक गयी जहाँगीर की श्वास,
झुक गयी मद की चितवन बंक;
बना जीवन जीवन का भार
और जीवन ही बना कलंक !

जो कि सिहर उठते थे भय से, देख चढ़े भ्रूचाप,
उनकी ही आँखों में देखा तुमने वह अभिशाप
कि जिसके व्यंग हृदय में हाय !
चुभ गये बन कर तीर !
बदला ही तो था, बदला है देवि ! सदा बेपीर !
आग में कब होता है नीर ?

अरी सम्राज्ञी ! वह साम्राज्य
मिट गया बन कर उष्ण समीर,
और उच्छृंखल ऊँचा भाल
झुका नीचे बन कर गम्भीर;
नाश की स्वामिन् ! तुम बन गयीं
नाश के लिए नितान्त अधीर !

ऐ रजकण के ढेर तुम्हारा है विचित्र इतिहास !
तुम मनुष्य की उन अभिलाषाओं के हो उपहास
कि जिनका असफलता है अन्त
और आशा जीवन !
बना अजान खंड ही यह लो आज तुम्हारा सदन
कभी उत्थान; कभी है पतन।

वासनाओं का यह संसार
भयानक भ्रम का है बन्धन,
और इच्छाओं का मंडल
आदि से अन्त रुदन है रुदन;
एक अनियन्त्रित हाहाकार !
इसी को कहते हैं जीवन।

[मधुकण से]

———

कुछ सुन लें, कुछ अपनी कह लें !
जीवन-सरिता की लहर-लहर
मिटने को बनती यहाँ प्रिये !
संयोग क्षणिक ! फिर क्या जाने
हम कहाँ और तुम कहाँ प्रिये ?

पल-भर तो साथ-साथ बह लें ;
कुछ सुन लें, कुछ अपनी कह लें !

आओ कुछ ले लें औ दे लें !
हम हैं अजान पथ के राही,
'चलना' जीवन का सार प्रिये !
पर दुःसह है, अति दुःसह है—
एकाकीपन का भार प्रिये !

पल-भर हम-तुम मिल हँस खेलें ;
आओ कुछ ले लें औ' दे लें !

हम तुम अपने में लय कर लें !
उल्लास और सुख की निधियाँ,
बस इतना इनका मोल प्रिये !
करुणा की कुछ नन्हीं बूँदें,
कुछ मृदुल प्यार के बोल प्रिये !

सौरभ से अपना उर भर लें,
हम तुम अपने में लय कर लें !

हम-तुम जी भर खुल कर मिल लें!
जग के उपवन की यह मधु-श्री,
सुषमा का सरस वसन्त प्रिये!
दो साँसों में वस जाय और
ये साँसें बनें अनन्त प्रिये!

मुरझाना है, आओ खिल लें;
हम-तुम जी भर खुलकर मिल लें।

मेरे जीवन की रानी!
मेरे जीवन में आओ!
मधु ऋतु की पागल कोकिल!
मधु में पंचम भर जाओ!
ऐ उर के मीठे सपने!
विस्मृति के फूल लुटाओ!
उन्माद भरी तन्मयता!
अपना आसव भर लाओ!

मैं वनूँ प्रेम का कम्पन,
तुम उसकी मधुर कहानी,
मेरे जीवन में आओ
मेरे जीवन की रानी!

कल्पना किया करती है
मेरे मानस में क्रीड़ा,
खेला करती है निशि-दिन
प्राणों से मीठी पीड़ा;
है सिसक रही युग-युग की
प्यासी-सी यह अभिलाषा;
हँसती रहती है उर में
मेरी चिर-संचित आशा।

मैं स्वयम् डुबा लूँ जिसमें,
तुम वह प्रवाह बन जाओ!
मेरे सपने की प्रतिमा!
सपना-सी बन कर आओ।

मैं सागर का गर्जन हूँ,
तुम सरिता की रँगरेली;
मैं जीवन का विप्लव हूँ,
तुम उसकी मौन पहेली;
मैं ताप बनूँ पावक का,
तुम हो प्रकाश की माला;
उन्माद बनूँ मैं मधु का,
तुम हो सुरभित मधुशाला;

मैं बनूँ क्रान्ति की हलचल,
तुम करुणा दीवानी सी;
मैं तड़प उठूँ आँधी सी,
तुम बरस पड़ो पानी सा !

मेरी आहों के शोलों
का ज्वालामुखी प्रबल हो,
उच्छ्‌वास तुम्हारो धूमिल
नभ मंडल की हलचल हो;
मैं बनूँ नाश विच्छृंखल,
तुम महा प्रलय अविकल हो;
मैं बनूँ नृत्य तांडव का
तुम उसकी गति चंचल हो;

विद्रोह भरे जीवन में,
तुम महाशक्ति बन जाओ !
मेरे पतझड़ की झंझा,
मेरे पतझड़ में आओ।

मेरे सोये से उर में
तुम जागृति की कम्पन-सी,
अलसाई-सी आँखों में
मदिरा के पागलपन-सी;

मेरे सूने-से जग में
तुम वैभव के स्पन्दन सी;
आओ, जीवन-निधि! आओ,
जीवन में तुम जीवन सी;

जीवन-जलनिधि में मेरी
तृष्णा अतृप्त बन जाओ!
मैं भूल गया हूँ निज को,
निज बनकर मुझमें आओ!

तुम सुधि बन-बन कर बार-बार
क्यों कर जाती हो प्यार मुझे?
फिर विस्मृति बन तनमयता का
दे जाती हो उपहार मुझे!

मैं करके पीड़ा को विलीन
पीड़ा में स्वयम् विलीन हुआ;
अब असह बन गया देवि, तुम्हारी अनुकम्पा का भार मुझे?

माना वह केवल सपना था,
पर कितना सुन्दर सपना था!
जब मैं अपना था, और सुमुखि,
तुम अपनी थीं, जग अपना था!

जिसको समझा था प्यार, वही
अधिकार बना पागलपन का,
अब मिटा रहा प्रतिपल, तिल-तिल, मेरा निर्मित संसार मुझे !

हम दीवानों की क्या हस्ती ?
हैं आज यहाँ, कल वहाँ चले !
मस्ती का आलम साथ चला,
हम धूल उड़ाते जहाँ चले;
आये बन कर उल्लास अभी,
आँसू बन कर बह चले अभी;
सब कहते ही रह गये, अरे
तुम कैसे आये, कहाँ चले ?

किस ओर चले ? यह मत पूछो,
चलना है; बस इसलिए चले;
जग से उसका कुछ लिये चले
जग को अपना कुछ दिये चले
दो बात कहीं, दो बात सुनीं !
कुछ हँसे और फिर कुछ रोये
छक कर सुख-दुख के घूँटों को
हम एक भाव से पिये चले !

हम भिखमंगों की दुनिया में,
स्वच्छन्द लुटा कर प्यार चले;
हम एक निशानी सी उर पर
ले असफलता का भार चले;
हम मान-रहित, अपमान-रहित
जी भर कर खुल कर खेल चुके;
हम हँसते-हँसते आज यहाँ
प्राणों की बाजी हार चले!

हम भला-बुरा सब भूल चुके,
नत मस्तक हो, मुख मोड़ चले;
अभिशाप उठा कर होंठों पर
वरदान दृगों से छोड़ चले,
अब अपना और पराया क्या?
आबाद रहें रुकने वाले!
हम स्वयम् बँधे थे और स्वयम्
हम अपने बन्धन तोड़ चले!

[प्रेम संगीत से]

श्री भगवतीचरण वर्मा के ग्रन्थ

काव्य—मधुकण, प्रेमसंगीत

उपन्यास—पतन, चित्रलेखा, तीन वर्ष

कहानी—इन्स्टालमेन्ट

राष्ट्रीय धारा

श्री माखन लाल चतुर्वेदी 'एक भारतीय आत्मा'

श्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'

श्रीमती सुभद्रा कुमारी चौहान

श्री गया प्रसाद शुक्ल 'सनेही'

श्री माखनलाल चतुर्वेदी

'एक भारतीय आत्मा'

श्री चतुर्वेदी जी हमारे राष्ट्रीय कवि हैं। उन्होंने 'एक भारतीय आत्मा' के नाम से जो रचनाएँ की हैं वे मानों नवीन रक्त से लिखी गयी हैं। उनकी राष्ट्रीय कविताओं में उनके भाव ऐसे जाग गये हैं, जैसे प्रभात में मन्द वायु से फूल जाग उठते हैं। प्रकृति के चित्रण में भी जब उनकी राष्ट्रीय भावना जागती है तो वे उस ब्रह्मवादी जैसे ज्ञात होते हैं जो अणु-अणु में अपने आराध्य को देखता है। वे इस क्षेत्र में बहुत सफल हैं। प्रकृति के कुसुम भी उस पथ पर गिरना चाहते हैं जहाँ वीर बलिवेदी पर अपना सिर चढ़ाने जाते हैं। उनकी कोकिला भी देश-प्रेम के राग से कूजती है। प्रकृति और देश-प्रेम का यह सम्मिश्रण चतुर्वेदी जी की विशेषता है।

श्री चतुर्वेदीजी द्विवेदीकाल के कवि हैं। उन्होंने रहस्यवाद की छाप अपनी कविता में प्रारम्भ से ही रक्खी है, किन्तु वह रहस्यवाद देश-प्रेम के क्रोड़ ही में है। संसार की साधारण वस्तुओं में भी वे संकेत देखते हैं और अपनी विचित्र शब्दावली में एक रूपक बाँध देते हैं। उनकी शब्दावली विचित्र इसलिए है कि उसके संकलन में कोई विशेष रुचि नहीं है। वह कलात्मक भी नहीं है।

दमयन्ती के एक चीर की माँग हुई बाज़ी पर,
देश-निकाला स्वर्ग बनेगा तेरी नाराज़ी पर।

बाज़ी और नाराज़ी दमयन्ती के चीर और स्वर्ग की कलाभिव्यक्ति के प्रतिकूल हैं, वे चाहे भाव-प्रकाशन के कितने ही अनुकूल क्यों न हों। भावना को प्रकाशित करने में समर्थ जो शब्द कवि के मस्तिष्क में आते हैं उन्हें ही स्वाभाविक रूप से वह सामने रख देता है। फ़ारसी और अरबी के शब्दों से कवि का कोई वैमनस्य नहीं और वह शुद्ध तत्सम संस्कृत शब्दों की पंक्ति में उन्हें सादर बिठला देता है। भाव-प्रकाशन कवि की शैली का चरम उद्देश्य है।

श्री चतुर्वेदीजी की कविताओं में कहीं-कहीं अस्पष्टता भी है। इसका कारण यह है कि उनके देशप्रेम के साथ उनके आराध्य की अनुभूति भी चलती है और यह अनुभूति अस्पष्ट होने के कारण उनकी कविता में भी अस्पष्टता ला देती है।

श्री चतुर्वेदीजी ने एक नाटक भी लिखा है—श्री कृष्णार्जुन युद्ध। उसमें चाहे पात्रों का मनोवैज्ञानिक संघर्ष का विकास न हो, लेकिन काव्य और कला का स्पष्टीकरण प्रत्येक स्थान पर है। ऐसे साहित्यिक नाटक हिन्दी में कम हैं।

राष्ट्रीय कवि के नाते श्री माखनलाल चतुर्वेदी सर्वमान्य और प्रतिष्ठित हैं।

कुंज कुटीरे यमुना तीरे

पगली तेरा ठाट, किया है रत्नाम्बर परिधान,
अपने क़ाबू नहीं और यह सत्याचरण विधान;
उन्मादक मीठे सपने ये और अधिक मत ठहरें!
साक्षी न हों न्याय-मन्दिर में कालिन्दी की लहरें।

डोर खींच मत शोर मचा,
मत बहक, लगा मत ज़ोर;
माँझी थाह देख कर आ तू,
मानस तट की ओर।

कौन गा उठा? अरे करें मत ये पुतलियाँ अधीर;
इसी क़ैद पर बन्दी हैं वे श्यामल-गौर शरीर।
पलकों की चिक पर हृत्तल के छूट रहे फ़व्वारे,
निश्वासें पंखे झलती हैं, उनसे मत गुंजारे।

यही व्याधि मेरी समाधि है,
यही राग है त्याग;
क्रूर तान के तीखे शर मत
छेदें मेरे भाग।

❀ ❀ ❀ ❀

काले अन्तस्तल से फूटी कालिन्दी की धार,
पुतली की नौका पर लाया मैं दिलदार उतार;
बादवान तानी पलकों ने—हा यह क्या चीत्कार?
कैसे ढूँढ़ूँ? हृदय-सिन्धु में, छूट पड़ी पतवार!

भूली जाती हूँ अपने को,
प्यारे मत कर शोर;
भाग नहीं, गह लेने दे
तेरे अम्बर का छोर।

❀ ❀ ❀

अरे, बिकी बेदाम कहाँ मैं? हुई बड़ी तक़सीर,
धोती हूँ जो बना चुकी हूँ पुतली में तसवीर;
डरती हूँ दिखलायी पड़ती तेरी उसमें वंशी,
कुंज-कुटीरे-यमुना-तीरे तू दिखता यदुवंशी।

अपराधी हूँ, मंजुल मूरत, ताकी
हा! क्यों ताकी?
बनमाली! मुझसे न मिटेगी;
ऐसी बाँकी झाँकी।

अरी खोद कर मत देखे, ये अभी पनप पाये हैं,
बड़े दिनों में, खारे जल से कुछ अंकुर आये हैं;
पत्ती को मस्ती लाने दे, कलियाँ कढ़ जाने दे,
अन्तरतम को अन्त चीर कर अपनी पर आने दे।

ही-तल वेध, समस्त खेद तज,
मैं दौड़ी आऊँगी;
नील-सिन्धु-जल-धौत-चरण पर,
चढ़ कर खो जाऊँगी।

पुष्प की अभिलाषा

चाह नहीं, मैं सुर बाला के
गहनों में गूँथा जाऊँ;
चाह नहीं, प्रेमी-माला में
बिँध प्यारी को ललचाऊँ;

चाह नहीं, सम्राटों के शव पर
हे हरि! डाला जाऊँ;
चाह नहीं, देवों के शिर पर
चढ़ूँ, भाग्य पर इठलाऊँ;

मुझे तोड़ लेना वनमाली!
उस पथ में देना तुम फेंक,
मातृ-भूमि पर शीश चढ़ाने
जिस पथ जावें वीर अनेक।

खीझमयी मनुहार

किन बिगड़ी घड़ियों में झाँका ?
तुझे झाँकना पाप हुआ ;
आग लगे—वरदान निगोड़ा
मुझ पर आकर शाप हुआ !
जाँच हुई, नभ से भूमंडल
तक का व्यापक नाप हुआ ;
अगणित बार समा कर भी
छोटा हूँ, यह सन्ताप हुआ ।
अरे अशेष ! शेष की गोदी
तेरा बने बिछौना-सा ।
आ मेरे आराध्य ! खिला लूँ
मैं भी तुझे खिलौना सा ।

वेदना के गीत

कम्पन के तागे में गूँथे-से क्यों लहराते हो ?
मारुत ही क्यों, तरुवर-कुंजों में न बिलम पाते हो,
और. पंछियों की तानों से ज़रा न टकराते हो;
टेकड़ियों के द्वार, कहो, कैसे चढ़ कर आते हो ?
आते-जाते हो, या मुझमें आकर छिप जाते हो ?

भ्रमित की मति सी परम गँवार
आह की मिटती सी मनुहार,
पूछती है तुमसे दिलदार—

कौन देश से चले ? कौन सी मंज़िल पर जाते हो ?
कसक. चुटकियों पर चढ़कर, क्यों मस्तक डुलवाते हो ?
कम्पन के तागे में गूँथे-से क्यों लहराते हो ?
क्या बीती है ?—आजाने दो उसको भी इस पार;
क्यों करते हो लहराने का भूतल में व्यापार ?
चट्टानों से बनी विन्ध्य की टेकड़ियों के द्वार—
वायु विनिन्दित तरलाई पर तैर रहे बेकार—

छटपटाहट को यों मत मार,
पहन सागर लहरों का हार,
खोल दे कोटि कोटि हृद्-द्वार,

कहा भटकते, लेते प्राणों को बन राग विहाग !
शीतल अंगारों से विश्व जलाने क्यों जाते हो ?
कम्पन के तागे में गूँथे-से क्यों लहराते हो ?
किस के लिए छेड़ते हो अपनी यह तरल तरंग ?
किसे डुबोने को घोला है, यह लहरों पर रंग ?
कोई गाहक नहीं, अरे, फिर क्यों यह सत्यानाश ?
बाँस, काँस, कुस से सहते हो, लहरों का उपहास !

अरे वादक क्यों रहा उड़ेल,
खेलता आत्म-घात का खेल,
उड़ाता व्यर्थ स्वरों का मेल;
यह सच है किस लिए बिना पंखों के मृदुल उड़ान !
दूर नहीं होते, माना; पर पास भी न आते हो ?
कम्पन के तागे में गूँथे-से क्यों लहराते हो ?
मानूँ कैसे ? कि यह सभी सौभाग्य सखे मुझ पर है ?
है तो मेरे लिए पास आने में किस का डर है ?
मेरे लिए उठेंगी, आशाओं में ऐसी ध्वनियाँ !
करुणा के बूँदों, काली होंगी उनकी जीवनियाँ !
अरे, वे होंगी क्यों उस पार ?
यहीं होंगी पलकों के द्वार;
पहन मेरी श्वासों के हार;
आह, गा उठे, हेमाँचल पर तेरी हुई पुकार—
बनने दें तेरी कराह को परसों की हुंकार—
और जवानी को चढ़ने दे बलि के मीठे द्वार,
सागर के धुलते चरणों से उठे प्रश्न इस बार—
अन्तस्तल से अतल-वितल को क्यों न वेध जाते हो ?
अजी वेदना-गीत गगन को क्यों न छेद जाते हो ?
उस दिन, जिस दिन महानाश की धमकी सुन पाते हो,
कम्पन के तागे में गूँथे-से क्यों लहराते हो ?

———

क़ैदी और कोकिला

क्या गाती हो ? क्यूँ रह-रह जाती हो ? कोकिल, बोलो तो ?
क्या लाती हो ? सन्देशा किसका है ? कोकिल, बोलो तो ?

ऊँची काली दीवारों के घेरे में,
डाकू, चोरों, बटमारों के डेरे में,
जीने को देते नहीं पेट-भर खाना,
मरने भी देते नहीं—तड़प रह जाना,

जीवन पर अब दिन-रात कड़ा पहरा है,
शासन है, या तम का प्रभाव गहरा है ?

हिमकर निराश कर गया रात भी काली,
इस समय कालिमामयी जगी क्यूँ आली ?

क्यूँ हूक पड़ी ? वेदना—बोझवाली सी—कोकिल; बोलो तो ?
क्या लुटा ? मृदुल वैभव की रखवाली सी—कोकिल, बोलो तो ?

बन्दी सोते हैं, है घघर श्वासों का,
दिन के दुख का रोना है निश्वासों का,
अथवा स्वर है—लोहे के दरवाज़ों का,
बूटों का, या सन्त्री की आवाज़ों का,

या करते गिनने वाले हा-हा-कार,
सारी रातों हैं—एक, दो, तीन, चार !

मेरे आँसू की भरी उभय जब प्याली,
बेसुरा !—(मधुर) क्यों गाने आयी आली ?

क्या हुई बावली ? अर्द्धरात्रि को चीखीं—कोकिल, बोलो तो ?'
किस दावानल की ज्वालाएँ हैं देखीं—कोकिल, बोलो तो ?

निज मधुराई को कारागृह पर छाने,
जीके घावों पर तरलामृत बरसाने,
या वायु-विटप वल्लरी चीर हठ ठाने,—
दीवार चीरकर अपना स्वर अजमाने.

या लेने आयी मम आँखों का पानी,
नभ के ये दीप बुझाने की है ठानी !

खा अन्धकार करते वे जग रखवाली,
क्या उनकी आभा तुझे न भायी आली ?

तुम रवि किरणों से खेल जगत को रोज जगाने वाली—
कोकिल ! बोलो तो,
क्यों अर्धरात्रि में विश्व जगाने आयी हो मतवाली—
कोकिल, बोलो तो ?

दूबों के आँसू धोती, रवि-किरणों पर,
मोती बिखराते विन्ध्या के झरनों पर,
ऊँचे उठने के व्रतधारी इस वन पर,
ब्रह्मांड कँपाते उस उद्दंड पवन पर,

तेरे मीठे गीतों का पूरा लेखा,
मैंने प्रकाश में लिखा सजीला देखा,

अब सर्वनाश करती क्यों हो ? तुम जाने या बे-जाने,—
कोकिल बोलो तो !

क्यों तमोरात्रि पर विवश हुई लिखने मधुरीली तानें—
कोकिल, बोलो तो ?

क्या देख न सकती जंजीरों का पहना ?
हथकड़ियाँ क्यों ? यह ब्रिटिश राज का गहना !
गट्टी पर ! अंगुलियाँ ने लिक्खे गान !
कोल्हू का चरखा चूँ —जीवन की तान !
हूँ मोट खींचता लगा पेट पर जूँआ,
खाली करता हूँ ब्रिटिश अकड़ का कूँआ।
दिन में मत करुणा जगे, रुलाने वाली ?
इसलिए रात में गजब ढा रही आली !

इस शान्त समय में अन्धकार को भेद, रो रही क्यों हो—
कोकिल, बोलो तो ?
चुपचाप, मधुर विद्रोह-बीज इस भाँति बो रही क्यों हो—
कोकिल, बोलो तो ?

काली तू, रजनी भी काली,
शासन की करनी भी काली,
काली लहर, कल्पना काली,
मेरी काल-कोठरी काली,
टोपी काली, कम्बल काली,
मेरी लोह-शृंखला काली,
पहरे की हुँकृति की व्याली,
तिस पर है गाली ! ऐ आली !

इस काले संकट-सागर पर—मरने की मदमाती—
कोकिल, बोलो तो ;
अपने चमकीले गीतों को किस विधि हो तैराती—
कोकिल, बोलो तो ?

तुझे मिली हरियाली डाली,
मुझे नसीब कोठरी काली,
तेरा नभ भर में संचार,
मेरा दस फुट का संसार।

तेरे गीतों उठती वाह,
रोना भी है मुझे गुनाह !

देख विषमता तेरी मेरी,
बजा रही तिस पर रणभेरी !

इस हुंकृति पर, अपनी कृति से, और कहो क्या कर दूँ ?—
कोकिल, बोलो तो ?
मोहन के व्रत पर, प्राणों का आसव किस में भर दूँ—
कोकिल, बोलो तो ?

फिर कुहू—अरे क्या बन्द न होगा गाना ?
यह अन्धकार में मधुराई दफ़नाना !
नभ सीख चुका है क़मज़ोरों को खाना
क्यों बना रहा अपने को उसका दाना ?

तिस पर, करुणा-गाहक बन्दी सोते हैं,
स्वप्नों में स्मृतियाँ श्वासों से धोते हैं

सींकचे-रूपिणी लोहे की पाशों में,
क्या भर देगी, बोली निन्दित लाशों में ?
क्या घुस जायेगा रुदन तुम्हारा निश्वासों के द्वारा—
कोकिल, बोलो तो ?
और प्रात में हो जायेगा उलट-पुलट जग सारा—
कोकिल बोलो तो ?

—— ——

उन्मूलित वृक्ष

भला किया, जो इस उपवन के,
सारे पुष्प तोड़ डाले;
भला किया, मीठे फल वाले
ये तरुवर मरोड़ डाले;
भला किया, सींचो पनपाओ
लगा चुके हो जो कलमें;
भला किया, दुनिया पलटा दी
प्रबल उमंगों के बल में;

लो हम तो चल दिये,
नये पौधो प्यारो ! आराम करो,
दो दिन की दुनिया में आये,
हिलो-मिलो कुछ काम करो ।

पथरीले ऊँचे टीले हैं,
रोज नहीं सींचे जाते;
वे नागर न यहाँ आते हैं,
जो थे बागीचे आते।
झुकी टहनियाँ तोड़-तोड़ कर,
वनचर भी खा जाते हैं,
शाखा मृग कन्धों पर चढ़ कर
भीषण शोर मचाते हैं।

❀ ❀ ❀

दीनबन्धु की कृपा, बन्धु!
जीवित हैं, हाँ, हरियाले हैं,
भूले-भटके कभी गुजरना,
हम वे ही फल वाले हैं।

[त्रिधारा से]

श्री माखनलाल चतुर्वेदी के ग्रन्थ

काव्य—[चतुर्वेदी जी ने स्फुट कविताएँ ही लिखी हैं। उनकी कविताओं का पहला संग्रह 'हिमकिरीटिनी' शीघ्र प्रकाशित होने वाला है। उद्योग मन्दिर जबलपुर से प्रकाशित त्रिधारा में उनकी कुछ कविताओं का संकलन है]

गद्य— साहित्य देवता (अप्रकाशित)

नाटक— श्री कृष्णार्जुन युद्ध।

———

श्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'

'श्री नवीन' राष्ट्रीय कवि कहे गये हैं, पर उनकी राष्ट्रीयता संकेतवाद के सामने गौण है। इसमें सन्देह नहीं कि 'नवीन' ने कुछ राष्ट्रीय गीत उच्च कोटि के लिखे हैं पर ऐसे गीतों की संख्या कम है। उनकी अधिकांश कविताओं में सौन्दर्य का अन्वेषण है। कहीं-कहीं उनके पीछे अध्यात्मवाद भी है, पर भाषा 'एक भारतीय आत्मा' की भाषा की भाँति ही 'ऊबड़-खाबड़ है, उसमें साहित्यिक सुरुचि नहीं है। भाव-विन्यास में 'नवीन' जी आधुनिक छायावादी कवियों से किसी भाँति भी हीन नहीं हैं।। यद्यपि नवीन ने कोई दार्शनिकता प्रदर्शित नहीं की तथापि उनकी पंक्तियों में मानव जीवन का इतिहास बड़े शक्तिशाली रूप में हैं। नवीन में देश-भक्ति की भावना के साथ सौन्दर्यान्वेषण की शक्ति भी बहुत अच्छी है। आश्चर्य तो इस बात का है कि जो कवि देश के दुख-दर्द में भैरव हुंकार जैसी कविता लिखता है वही किसी कोमलांगी के सौन्दर्य के अभिभूत हो जाता है।

'नवीन' की देश-भक्ति में भी सौन्दर्य की अनुभूति है। कवि की शैली में एक अपनी विशेषता है जिसमें देश-प्रेम के साथ सौन्दर्य-प्रेम भी है।

विप्लव-गायन

कवि, कुछ ऐसी तान सुनाओ—जिससे उथल-पुथल मच जाये,
एक हिलोर इधर से आये—एक हिलोर उधर से आये,
प्राणों के लाले पड़ जायें, त्राहि-त्राहि रव, नभ में छाये,
नाश और सत्यानाशों का धुँआधार जग में छा जाये,
बरसे आग, जलद जल जायें, भस्मसात् भूधर हो जायें,
पाप-पुण्य सद्सद्भावों की, धूल उड़ उठे दायें-बायें,
नभ का वक्षस्थल फट जाये, तारे टूक-टूक हो जायें,
कवि, कुछ ऐसी तान सुनाओ, जिससे उथल-पुथल मच जाये।

माता की छाती का अमृतमय पय कालकूट हो जाये,
आँखों का पानी सूखे, वे शोणित की घूँटें हो जायें,
एक ओर कायरता काँपे, गतानुगति विगलित हो जाये,
अन्धे मूढ़ विचारों की वह, अचल शिला विचलित हो जाये,
और दूसरी ओर कँपा देनेवाला गर्जन उठ धाये,
अन्तरिक्ष में एक उसी नाशक तर्जन की ध्वनि मँडराये,
कवि, कुछ ऐसी तान सुनाओ जिससे उथल-पुथल मच जाये।
नियम और उपनियमों के ये बन्धन टूक-टूक हो जायें,
विश्वम्भर की पोषक वीणा के सब तार मूक हो जायें,

शन्ति-दंड टूटे, उस महारुद्र का सिंहासन थर्राये,
उसकी पोषक श्वासोच्छ्वास, विश्व के प्रांगण में घहराये,
नाश ! नाश !! हा महानाश !!!—की प्रलयंकरी आँख खुल जायें,
कवि, कुछ ऐसी तान सुनाओ, जिससे उथल-पुथल मच जाये !"

"सावधान ! मेरी वीणा में चिनगारियाँ आन बैठी हैं,
टूटी हैं मिज़रावें, युगलांगुलियाँ ये मेरी ऐंठी हैं;
कंठ रुका जाता है, महानाश का गीत रुद्ध होता है,
आग लगेगी क्षण में, हृत्तल में अब क्षुब्ध युद्ध होता है,
झाड़ और झंखाड़ व्याप्त हैं—इस ज्वलन्त गायन के स्वर से,
रुद्ध-गीत की क्षुब्ध तान निकली है मेरे अन्तर-तर से !

"कण-कण में है व्याप्त वही स्वर, रोम-रोम गाता है वह ध्वनि,
वही तान गाती रहती है, कालकूट फणि की चिन्तामणि,
जीवन-ज्योति लुप्त है—अहा ! सुप्त हैं संरक्षण की घड़ियाँ,
लटक रही हैं प्रतिपल में—इस नाशक संभक्षण की लड़ियाँ !
चकनाचूर करो जग को—गूँजे ब्रह्मांड नाश के स्वर से,
रुद्ध-गीत की क्रुद्ध तान, निकली है मेरे अन्तर-तर से !

"दिल को मसल-मसल मेंहदी, रचता आया हूँ मैं यह देखो—
एक-एक अंगुलि परिचालन में नाशक तांडव को पेखो !
विश्व-मूर्त्ति ! हट जाओ—यह वीभत्स प्रहार सहे न सहेगा,
टुकड़े-टुकड़े हो जाओगी, नाश-मात्र अवशेष रहेगा।

आज देख आया हूँ, जीवन के सब राज़ समझ आया हूँ;
भ्रू-विलास में महानाश के, पोषक-सूत्र परख आया हूँ;
जीवन-गीत भुला दो— कंठ मिला दो, मृत्यु-गीत के स्वर से,
रुद्ध-गीत की क्रुद्ध तान निकली है मेरे अन्तर-तर से!"

नंगों भूखों का यह गाना

सुन लो, गर तुममें हिम्मत है,
नंगों-भूखों का यह गाना,
अब तक के रोने वालों का
यह विकट तराना मस्ताना;

जिनको तुम कीड़ा समझे थे,
वे तो यारो! निकले मानव;
जो रेंगा करते थे अब तक,
वे आज कर उठे हैं ताण्डव;

देखो तो इन उरगों के भी
दो-दो कर-पद उग आये हैं,
इन निपट रेंगने वालों ने
अपने सर आज उठाये हैं।

तुम क्यों खीझे हो, ओ मालिक!
दो आज बधाई जन-गण को,
आओ सम्मानित करो आज
इस नवल जागरण के क्षण को;

जिस क्षण प्रणोदना-जन्य तीव्र
तड़पन से, चल हो अन्तस्तल,
जिस क्षण विकास की पीड़ा से
हो यह बाह्याभ्यन्तर विह्वल;

उस दिन तुम क्यों न निछावर हो
जाओ मानवता के ऊपर ?
क्या काम खीझने का उस क्षण ?
सोचो तो, ओ तुम लक्ष्मीश्वर !

हम क्यों उदास हत-आश बनें
जागृति की प्रातर्वेला में ?
हम क्यों मीचें अपने लोचन
किरणों की नूतन खेला में ?

जागृति में कुछ तो उठा-पटक,
कुछ गड़बड़ तो होती ही है;
जागृति तो आख़िर जागृति है,
वह तो निद्रा खोती ही है;

तुम विकट उग्र उद्योगी हो,
तुम व्यवसायी, तुम बहुधन्धी;
तुम हो औद्योगिक क्रान्तिपाल,
मत बनो रूढ़ियों के बन्दी।

वे जो थे नव चेतना-शून्य;
अब अँगड़ाई ले उठे, अहो !
इसमें यों विचलित होने की
है कौन बात ! कुछ तुम्हीं कहो;

इनका यह नव जागरण दिवस,
है देवोत्थान पर्व जन का,
है इसमें तो प्रेरणा अगम,
इसमें है स्वर उद्‌बोधन का;

तुम करो आरती वसुधा की,
जागें धरती के पूत बली;
ये नव निर्माण-स्वप्न-द्रष्टा,
संहारों के अवधूत बली;

अन्तरतर का तम तोम हटा,
भय भागा, नींद हटी गहरी;
जग-जन-गण के उन्नायक ये
अब जाग उठे सज्जित प्रहरी;

यह दोहन-चक्र चला सदियों,
पिसती आयी यह मानवता,
निज डाढ़ चलाती रही खूब,
सदियों विकराली दानवता !

आँखें सहसा खुल चलीं आज,
टूटा सम्मोहन—इन्द्रजाल,
गतिमय, कृतिमय, धृतिमय महान
हो रहे आज सब दिशापाल।

तुम आज शिकायत करते हो,
जन-गण की उच्छृंखलता की,
पर कभी न देखी क्या तुमने
झाँकी जीवन-चंचलता की?

सोचो तो, यारो! वह वेला,
जब जड़मय, पराभूत जग था,
उस क्षण जीवन-गति-रहित शून्य,
निष्प्राण अकम्पित जग-मग था;

हाँ, जब चेतन काँपा जड़ में,
तब हुई सृष्टि की सुसफलता;
पर, तब, तुम होते तो कहते,
'यह तो है अति उच्छृंखलता।'

क्षण भर को तो सोचो भाई,
जड़-चेतन का वह सन्धिकाल,
कितना विस्फोटक, प्रलयंकर,
होगा वह कितना अति कराल!

जीवनधारी होकर के तुम
हड़-बड़ से यों घबड़ाते हो?
यह हेम कूप-मंडूक-वृत्ति
जो तुम यों नाक चढ़ाते हो;

मानवता को कुछ गति देने,
कुछ देने जीवन—दान नया,
कुछ उसे बढ़ाने आगे को
आयी है यह जागृति अभया;

भूखों की रसना आज खुली,
मुर्दों में आयी जान ज़रा;
अब तक के सहने वालों में
आयी है एक उठान ज़रा;

मानवता तभी बढ़ी आगे
जब उभरे ये नीचे वाले;
आया बिहिश्त धरती पर तब
जब सँभले ये भोले-भाले;

सृष्टि-पूर्णता की मोहक यह,
कल्पना तभी आयी जग में;
जब नया रक्त दौड़ने लगा
नीचे वालों की रग-रग में;

अपने पर तुम यों मत फूलो,
मत ऐंठो, यों अपनेपन पर;
सिरजन की यह विराट झाँकी,
तन्मय हो देखो तो क्षण भर;

तुम कौन ? तुम्हारा वैभव क्या ?
दिनमान तुम्हारा कितना है ?
इस महाकाल के सागर में,
बुद् बुद् सम तम को मिटना है !

सोचो, ब्रह्मांड-मंडल में
भू-मंडल की क्या हस्ती है ?
इसमें भी कितनी छोटी-सी
संकीर्ण तुम्हारी बस्ती है !

इस काल-चक्र में जँचते हैं
कितने छोटे ये मन्वन्तर;
इस विश्वरूप के दर्शन से
कँप उठता है वाह्याभ्यन्तर;

जीवन के दिन की लघुता को
तुम स्वयम् जरा नापो भाई !
इस लघु दिन की निज करनी को
देखो, दिल में काँपो, भाई !

इतना छोटा अस्तित्व और
इतनी लिप्सा ? इतना प्रमाद ?
इतना शोषण ? इतना दोहन ?
इतना यह भैरव शंखनाद ?

इतना उत्पात भयानक यह,
इतनी क्रीड़ा राक्षसी क्रूर ?
इस एक निमिष के लिए, हाय
इतनी तेज़ी इतना ग़रूर !

ओ धन-कुबेर, सत्तावादी,
ओ निपट कल्पना-शून्य जीव;
अपने विशाल भवनों की क्यों
रखते बालू पर सदा नींव ?

जग-पीड़न के आधारों पर,
कब स्थायी गृह-निर्माण हुआ ?
विद्वेषों के व्यवहारों से
मानव-मन का कब त्राण हुआ ?

ब्रह्मांड-विश्व में यह धरती
है चुटकी भर मृत्तिका-मात्र !
उसमें भी यह वैभव सारा
है मोह-विनिर्मित भग्न-पात्र !

इतने ही भर के लिये ख़ूब
उत्पात मचा नभ-जल-थल में;
पड़ गयी मानवी सृष्टि, ख़ूब !
इस सर्वहारिणी हलचल में;

इस धन-सम्मोहन-बन्धन से
मानवता को करने विमुक्त—
हैं आज गा उठे मस्तानी
रागिणी हमारे यज्ञ-मुक्त;

चेतना नवल हममें आयी,
निद्रा टूटी, भय भाग गये;
अँज गया प्रकाशांजन दृग में,
हम जाग गये ! हम जाग गये !

हृद्‌गति धड़की, फड़की बाहें,
कड़की बिजली, भड़की आहें;
नर-मुक्ति-मार्ग की आज खुलीं
ये चौड़ी नयी-नयी राहें;

हम इन राहों से लायेंगे
नव निर्माणों के भव्य भाव;
हम इन राहों पर जायेंगे;
इसमें क्या खटका ? क्या दुराव ?

हम जागे तो ऐसे जागे
कि जागते ही दीखा सपना;
ऐसा सपना जिससे दीखा
हमको जग अपना ही अपना;

मिट गया भेद, मिल गया भेद,
सब खेद मिटा, संकोच हटा;
सीमा निःसीमा बन आयी,
मेरे-तेरे का पाप कटा;

कल्पना हंसिनी ने अपने
डैने फैलाये तान-तान
पहले का लघु आकाश आज,
बन गया असीमित आसमान;

समता की ममता ने हमको,
जन-गण-उद्धारण मन्त्र दिया;
हम करने निकले सिद्ध आज
जन-सत्ता-शासन-तन्त्र किया;

बाधाएँ हैं मग में, भाई,
आने दो, स्वागत है उनका;
हम क्रान्तिदर्शियों का समूह,
पक्का है अपनी इस धुन का;

हम ख़ूब जानते हैं, जग में
विप्लव कोई खिलवाड़ नहीं;
है कर्म्म कठिन, पर निश्चित ही
है तिल की ओट पहाड़ यहीं,

निकले हैं अपने मस्तक को
हम आज हथेली पर लेकर;
हम नंगे, भूखे, जाहिल हैं,
हम निपट निराश्रित, हम वेघर;

पर क्या ही यह युग धर्म्म ख़ूब
नंगों-भूखों पर भार पड़ा,
हमको नव सिरजन करना है,
हमको करना संहार बड़ा;

है देख रहा नव आशा से
हमको समस्त संसार खड़ा;
हम लिये लुकाठी करते हैं
जग बीच अग्नि-संस्कार कड़ा;

हू-हू करती लपटें उठतीं,
हो रहीं रूढ़ियाँ भस्म आज,
हो रही पूर्ण धीरे-धीरे
यों विश्व-क्रान्ति की रस्म आज;

इस होली में सब जलता है,
हम भी हो जाते राख यहाँ;
पर इसी राख से फिर बनते
हम जैसे सौ-सौ लाख यहाँ;

हम नव प्रकाश के पुंज अतुल,
हम उच्चाकाश-दीप जग के;
हम पन्थ अगम, हम पान्थ विकट,
हम निर्म्माता नव-नव मग के;

इस जगती में हम विचर रहे,
ले स्वर्ग-राज्य का पुण्य भाव;
इस मुक्त हमारी वाणी में
है हृदय-स्पन्दन का खिंचाव;

मानवता उट्ठेगी, यारो!
इसमें शक, शुबहा नहीं जरा;
हैं उधर ज़ालिमों की तोपें,
तो सीना इधर ख़ूब उभरा;

मर मिट जायेंगे हम, तो क्या
रह जायेगी असफला क्रान्ति?
है क्रान्ति सत्य, है क्रान्ति नित्य,
असफलता तो है एक भ्रान्ति।

कब मिलेंगे ध्रुव चरण वे ?

चलित चरणों की जगह अब, कब मिलेंगे ध्रुव चरण वे ?
युग युगान्तर के समाश्रय, वे अडिग, अशरण-शरण वे !

इधर देखा, उधर झाँका, मिल गये कुछ चपल लोचन,
मैं समझ बैठा कि मुझ को मिल गये संकट-विमोचन ;
किन्तु करता हूँ विगत का आज जब सिंहावलोकन,
देखता हूँ तब अनस्थिर भावना के आचरण ये ;

प्राण के उच्छ्वास में मैं खींच लाया शूल कितने !
और इस निःश्वास में उड़-उड़ गये हैं फूल कितने !
दान में स्मृति-रूप-कंटक मिल गये हैं आज इतने—
कि उन सुमनों के हुए हैं शूल ही नव संस्करण ये ;

नेत्र विस्फारित किये, जल, थल असीमाकाश में नित—
फिर रहा हूँ खोजता कुछ चीज़, मैं व्याकुल, प्रवंचित ;
भाल-रेखा पर हुई है चिर विफलता-छाप अंकित,
विकल अन्वेषण-सुरति को कब करेंगे पिय वरण वे ?

दीप लघु मैं, तव अलख कर से समय-नद में प्रवाहित,
नित्य प्रति प्रतिकूलता के प्रबल झोंकों से प्रताड़ित ;
टिमटिमाता बह रहा हूँ मैं जनम का ही निराश्रित ;
दीप-सम्पुट कब बनेंगी कर-अँगुलियाँ मनहरण वे ?

कौन जाने, यह विकम्पित दीप तुमने कब बहाया ?
क्या पता तुमने इसे फिर कब बुझाया, कब जगाया ?
है पता इतना, कि इसने आज तक प्रश्रय न पाया;
हैं बहाये जा रहे इस को, प्रवाही उपकरण ये;
कँप रही है ज्योति, अब तो तुम इसे कर दो अनिंगित
तव निवास-स्थान में अब लौ लगे इस की अशंकित;
सजल ज्योतिर्मय करो निज पुंज में इसको सुसंचित,
थाम दो अब तो ज़रा इस के अवश-से सन्तरण ये।

कुहू की बात

चार दिन की चाँदनी थी, फिर अँधेरी रात है अब,
फिर वही दिग्भ्रम, वही काली कुहूकी बात है अब ;
चाँदनी मेरे जगत की भ्रान्ति की है एक माया ;
रश्मि-रेखा तो अथिर है, नित्य है घन तिमिर छाया ;
ज्योति छिटकी थी कभी, अब तो अँधेरा पाख आया ;
रात है मेरी सजनि, इस भाल में नव प्रात है कब ?
इस असीमाकाश में भी लहरता है तिमिर-सागर ;
कौन कहता है गगन का वक्ष है अह-निशि उजागर ?
ज्योति आती है क्षणिक उद्दीप्त करने तिमिर का घर,
अन्यथा तो अन्धतम का ही यहाँ उत्पात है सब ;

मैं अँधेरे देश का हूँ चिर प्रवासी, सतत चिन्तित,
हृदय विभ्रम-जनित आकुल, अश्रु से मम पन्थ सिंचित ;
ओ प्रकाश-विकास, ओ नव रश्मि हास-विलास रंजित
मत चमकना अब, निराश्रित हूँ, शिथिल से गात हैं सब ।

सजन मेरे सो रहे हैं

सजन मेरे सो रहे हैं,
आज द्वन्द्वातीत-से वे योग-निद्रित हो रहे हैं;
सजन मेरे सो रहे हैं ।

सुख शयन के भार से हैं युग दृगच्छद अति थकित वे ,
ध्यान वीणा-नाद में हैं, रम गये लोचन चकित वे ;
नयन-तारा, पलक-कारावद्ध हैं, अति गति चलित वे ;
श्वास-दोलाचलन में प्रिय भार तन्द्रिल ढो रहे हैं ,
सजन मेरे सो रहे हैं।

नींद में घुल-मिल गयी हैं जागरण की सब व्यथाएँ ;
स्वप्न के संकेत की हैं, अटपटी-सी सब कथाएँ ;
शून्य-निद्रा-लोक-शोभा सजन जागें तो बताये ,
इस समय तो चित्त की चिर चेतना वे खो रहे हैं,
सजन मेरे सो रहे।

सुप्त-सरिता-धार में अस्तित्व-तरणी पड़ गयी है,
पूर्ण-संज्ञा शून्यता के भँवर लौं वह बढ़ गयी है;
शान्ति के पतवार की शोभा अनोखी नित नयी है;
नाव में विश्रान्ति-जल से मुख-कमल प्रिय धो रहे हैं;
सजन मेरे सो रहे हैं।

ले चलो कुछ देर को तो शयन-अपगा-कूल तक, प्रिय!
दृग-निमीलन मत करो अब थक गये हैं ये पलक, प्रिय!
नित्य जागृति-वेदना से हैं शिथिल मन, बुद्धि, इन्द्रिय
आज टुक विश्रान्ति के हित युगल लोचन रो रहे हैं;
सजन मेरे सो रहे हैं।

लिख विरह के गान

लिख विरह के गान, रे कवि।
ख़ूब खिलने दे अधर पर, दुख भरी मुसक्यान, रे कवि,
लिख विरह के गान।

इस झड़ी में बढ़ गयी है शून्यता मम हिय विकल की,
असहनीया हो गयी हैं सतत धारें मेघ-जल की;
किन्तु कब उनने सुनी है प्रार्थना आतुर निबल की?
तू लगा मम वेदना का आज कुछ अनुमान, रे कवि!
लिख विरह के गान।

व्योम में यह ढूँढता-सा फिर रहा निशि-नाथ उनको
मेघ तरियाँ गगन-सर में खोजती हैं उस निपुण को,
कवि, सदेही, सगुण करदे तू सनेही चिर निगुण को,
शून्य में कर शब्द-वेधी मन्त्र-शर—सन्धान, रे कवि !
लिख विरह के गान ।

नित्य निर्गुण चित्रपट में सगुणता की रेख भरना,
है यही पुरुषार्थ नर का अलख का अभिषेक करना;
अतल से कुछ खींच लाना, शून्य में साश्रय विचरना,
यदि न यह संभाव्य हो, तो क्यों न तड़पें प्राण रे कवि !
लिख विरह के गान ।

नेह, मानस-जात मेरा, यह चला अब मूर्त्त होने
मचल उट्ठा आज है वह निज स्वरूप अमूर्त्त खोने,
तड़पता है आधिभौतिक भाव में संस्फूर्त्त होने,
आत्म रूपाधार को वह खोजता अनजान, रे कवि !
लिख विरह के गान ।

प्राण प्रिय के रूठने की क्यों मिली है सूचना यह ?
हो गयी क्यों आज उनकी हिय दशा यों उन्मना यह ?
नेहदानी की विरति की हो रही क्यों व्यंजना यह ?
शिथिल, दीना पड़ गयी क्यों मम अतृप्त उड़ान, रे कवि !
लिख विरह के गान ।

तप्त प्राणों ने निरन्तर कौन-सी विपदा न झेली ?
किन्तु उलझी ही रही फिर भी अभी तक यह पहेली;
सतत अन्वेषण-क्रिया है बन गयी जीवन-सहेली;
आह ! क्या योंही पड़े रह जायँगे अरमान, रे कवि ?
लिख विरह के गान।

आम्र-वन के सघन झुरमुट से पपीहे ने पुकारा,
'पी, कहाँ ?' मैंने तड़प कर शून्य दिङ् मंडल निहारा;
'पी कहाँ ?' प्यासे दृगों का है कहाँ दर्शन-सहारा ?
क्यों नहीं पहुँचा वहाँ तक निरत मेरा ध्यान ? रे कवि !
लिख विरह के गान।

आज इस धूमिल घड़ी में कौन यह सन्देश लाया ?
साँझ आयी, किन्तु उनका राज-रथ अब तक न आया !
ढीठ मन यह पूछता है, क्यों उन्हें अब तक न पाया ?
क्या बताऊँ क्यों नहीं आये सजन रसखान ? रे कवि !
लिख विरह के गान।

हिय-रार मेरी

भ्रमित है छिन्नाभ्र सी यह रसभरी हिय-रार मेरी,
कुपित झंझावात में पड़ उड़ चली मनुहार मेरी;
अतल मानस नील नभ में एक दिन कुछ भाव जागे,
कुछ हुआ भ्रम-सा, अचानक आ गया कुछ आँख आगे,
सघन घन-गण घुमड़ घहरे, प्राणदाहक त्रास भागे
यह हुआ अनुभव कि आयी सजल ऋतु इस बार मेरी;

पर, अचिर थी मेघ-माला, वह तिरोहित हो गयी है,
आज फिर से क्षितिज-रेखा ताप-लोहित हो गयी है;
विज्जु-रेखा ? कौन जाने यह किधर को खो गयी है ?

उठ चली आँधी; हुई है वह मधुरिमा क्षार मेरी;

हास छिटका, रौप्य-रेखा खींचते इस व्योम-पथ पर,—
माघ-मेघों के चमकते, रुपहले गतिवान रथ पर,—
मुदित आरोहित हुए तुम आ गये थे, ललन मनहर,

बस तभी पहले पहल, उस दिन, हुई थी हार मेरी;

श्वास औ' निःश्वास का यह द्रुत समीरण-तुरग चंचल,
ले चला मुझको जहाँ थे अर्ध मीलित तव दृगंचल;
किन्तु तुम तो डाल बैठे थे मुखाम्बुज पर पटांचल,

लो, निराश्रित हो गयी है मन-लगन सुकुमार मेरी।

रस भरी हिय-रार मेरी;

[स्फुट]

श्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' के ग्रन्थ

काव्य—विस्मृता उर्मिला

[इनकी स्फुट रचनाओं का संग्रह अभी हाल में छपा है। ये रचनाएँ अधिकतर गणेशशंकर विद्यार्थी द्वारा संस्थापित 'प्रताप' में ही प्रकाशित हुई थी।]

श्रीमती सुभद्रा कुमारी चौहान

श्रीमती सुभद्रा कुमारी की रचनाएँ सबसे पहले 'कर्मवीर' के द्वारा साहित्य-संसार को प्राप्त हुईं। इन रचनाओं में जितनी सरलता थी उतनी ही स्वाभाविकता। धीरे-धीरे सुभद्राजी की रचनाओं ने शक्ति प्राप्त कर हिन्दी काव्य-साहित्य में आदरणीय स्थान पाया।

सुभद्रा जी की रचनाओं में नारी मनोविज्ञान की स्वाभाविक भावना है। उनकी रचनाएँ उनके पारिवारिक अनुभव की महान् कृतियाँ हैं और उनमें दुख सुख की विविधि भावनाएँ किसी स्रोतस्विनी की तरंगों की भाँति ही सहज और सौन्दर्यपूर्ण हैं।

जिन रचनाओं में सुभद्रा कुमारी जी का जीवन अंकित हुआ है वे उनकी राष्ट्रीय रचनाएँ हैं। सुभद्रा कुमारी ने वीर क्षत्राणी बन कर ओजपूर्ण शब्दों में भारत का गौरव गीत गाया है। उनकी 'झाँसी वाली रानी' कविता अपनी भावना में अद्वितीय है। सुभद्रा जी की कविताओं में अलंकारों का सौन्दर्य नहीं किन्तु भावोन्मेष का सौन्दर्य है। उनमें सरसता है, प्रवाह है।

सुभद्रा जी एक कहानी लेखिका भी हैं। 'बिखरे मोती' में उनकी कहानियाँ जीवन की स्वाभाविकता लिये हुए हैं। उन्हें काव्य और कहानी पर दो बार हिन्दी साहित्य सम्मेलन का सेकसरिया पारितोषिक मिला है।

सुभद्रा जी का देश-प्रेम उनके नारीत्व के तेज से मिल कर बहुत शक्तिशाली हो गया है।

राम समान हमारा भी तो
नहीं रहा अब राज सखी!
राजदुलारों के तन पर हैं
सजे फ़क़ीरी साज सखी!

हो असहाय भटकते फिरते
वनवासी से आज सखी!
सीता-लक्ष्मी हरी किसी ने?
गयी हमारी लाज सखी!

रामचन्द्र की विजय कथा का
भेद बता आदर्श सखी!
पराधीनता से छूटे यह
प्यारा भारतवर्ष सखी!

सबल पुरुष यदि भीरु बने तो,
हमको दे वरदान सखी!
अबलाएँ उठ पड़ें देश में,
करें युद्ध घमसान सखी!

पापों के गढ़ टूट पड़ें औ,
रहना तुम तैयार सखी!
विजये! हम तुम मिल कर लेंगी
अपनी माँ का प्यार सखी!

मातृ-मन्दिर में

व्यथित है मेरा हृदय-प्रदेश
चलूँ किसको वहलाऊँ आज ?
वताकर अपना दुख-सुख उसे
हृदय का भार हटाऊँ आज।
चलूँ माँ के पद-पंकज पकड़,
नयन जल से नहलाऊँ आज,
मातृ-मन्दिर में—मैंने कहा—
'चलूँ दर्शन कर आऊँ आज।'

किन्तु यह हुआ अचानक ध्यान
दीन हूँ, छोटी हूँ, अज्ञान!
मातृ-मन्दिर का दुर्गम मार्ग
तुम्हीं वतला दो हे भगवान्!
मार्ग के वाधक पहरेदार
सुना है ऊँचे-से सोपान;
फिसलते हैं ये दुर्वल पैर
चढ़ा दो मुझको हे भगवान्!

अहा! वे जगमग-जगमग जगीं
ज्योतियाँ दीख रही हैं वहाँ,
शीघ्रता करो, वाद्य वज उठे
भला मैं कैसे जाऊँ वहाँ?

सुनायी पड़ता है कलगान
मिला दूँ मैं भी अपनी तान ;
शीघ्रता करो, मुझे ले चलो
मातृ-मन्दिर में, हे भगवान् !

चलूँ, मैं जल्दी से चढ़ चलूँ,
देख लूँ, माँ की प्यारी मूर्ति;
अहा ! वह मीठी-सी मुसकान
जगाती होगी न्यारी स्फूर्ति ;
उसे भी आती होगी याद !
उसे ? हाँ आती होगी याद ;
नहीं रूठूँगी मैं, लो, आज
सुनाऊँगी उसको फ़रयाद ।

कलेजा माँ का, मैं सन्तान,
करेगी दोषों पर अभिमान,
मातृ-वेदी पर घंटा बजा,
चढ़ा दो मुझको हे भगवान् !
सुनूँगी माता की आवाज़,
रहूँगी मरने को तैयार ;
कभी भी उस वेदी पर देव !
न होने दूँगी अत्याचार ।

न होने दूँगी अत्याचार
चलो, मैं हो जाऊँ बलिदान,
मातृ-मन्दिर में हुई पुकार—
चढ़ा दो मुझको हे भगवान !

समर्पण

सूखी सी अधखिली कली है,
परिमल नहीं, पराग नहीं,
किन्तु कुटिल भौंरों के चुम्बन
का, है इस पर दाग़ नहीं।

तेरी अतुल कृपा का बदला
नहीं चुकाने आयी हूँ;
केवल पूजा में ये कलियाँ
भक्ति भाव से लायी हूँ।

प्रणय-जल्पना, चिन्त्य-कल्पना,
मधुर वासनाएँ प्यारी;
मृदु अभिलाषा, विजयी आशा,
सजा रही थीं फुलवारी;

किन्तु गर्व का मौक़ा आया,
यद्‌पि गर्व था वह तेरा ;
उजड़ गयी फुलवारी सारी
बिगड़ गया सब कुछ मेरा ।

बची हुई स्मृति की ये कलियाँ,
मैं बटोर कर लायी हूँ ;
तुझे सुझाने, तुझे रिझाने,
तुझे मनाने, आयी हूँ ।

प्रेम-भाव से हो, अथवा हो,
दया भाव से ही स्वीकार ;
ठुकराना मत इसे जान कर,
मेरा छोटा सा उपहार ।

[मुकुल से]

वीरों का कैसा हो वसन्त ?

वीरों का कैसा हो वसन्त ?
आ रही हिमांचल से पुकार,
है उदधि गरजता बार-बार,
प्राची, पश्चिम, भू, नभ अपार,
सब पूछ रहे हैं दिग्—दिगन्त,
वीरों का कैसा हो वसन्त ?

फूली सरसों ने दिया रंग,
मधु लेकर आ पहुँचा अनंग;
वधु-वसुधा पुलकित अंग-अंग,
हैं वीर वेश में किन्तु कन्त,
वीरों का कैसा हो वसन्त ?

भर रही कोकिला इधर तान,
मारू बाजे पर उधर गान;
है रंग और रण का विधान,
मिलने आये हैं आदि अन्त ;
वीरों का कैसा हो वसन्त ?

गलबाहें हों, या हो कृपाण,
चल चितवन हो या धनुष-बाण,
हो रस-विलास या दलित-त्राण,
अब यही समस्या है दुरन्त,
वीरों का कैसा हो वसन्त ?

कह दे अतीत अब मौन त्याग,
लंके ! तुझमें क्यों लगी आग ?
ऐ कुरुक्षेत्र ! अब जाग, जाग,
बतला अपने अनुभव अनन्त,
वीरों का कैसा हो वसन्त ?

हल्दी घाटी के शिला-खंड !
ऐ दुर्ग सिंह-गढ़ के प्रचंड !
राणा, ताना का कर घमंड,
दो जगा आज स्मृतियाँ ज्वलन्त,
वीरों का कैसा हो वसन्त ?

भूषण अथवा कवि चन्द नहीं,
बिजली भर दे वह छन्द नहीं;
है क़लम बँधी, स्वच्छन्द नहीं,
फिर हमें बतावें कौन ? हन्त !
वीरों का कैसा हो वसन्त ?

(त्रिधारा से)

———

श्रीमती सुभद्रा कुमारी चौहान के ग्रन्थ

काव्य—मुकुल, [उद्योग मन्दिर जबलपुर से प्रकाशित, 'त्रिधारा' में भी उनकी कुछ कविताओं का संकलन है]

कहानी—बिखरे मोती, उन्मादिनी

श्री गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही', 'त्रिशूल'

श्री गयाप्रसाद शुक्ल की रचनाओं का प्रभात 'रसिक मित्र' और 'काव्य सुधानिधि' आदि मासिक पत्रों के पृष्ठों में हुआ था। पहले इन्होंने उर्दू और ब्रजभाषा की शैली में रचनाएँ की थीं, बाद में इनका ध्यान खड़ी बोली की ओर आकर्षित हुआ। 'सरस्वती' और 'प्रताप' के द्वारा इन्होंने सामाजिक और सामयिक विषयों पर सरस रचनाएँ कर हिन्दी काव्य साहित्य में एक क्रान्ति उपस्थित कर दी थी।

'कृषक क्रन्दन' के भूमि-पृष्ठ पर इन्होंने जो बीज बोया वह देश-भक्ति के रूप में पल्लवित हुआ। यह देश-भक्ति स्वतन्त्रता के उच्च आदर्शों के साथ थी। भाषा का ओज तो शुक्ल जी के साथ था ही। प्राचीन काल की गौरव-गाथा शुक्ल जी के हृदय में केवल पश्चात्ताप का रूप ही नहीं ले सकी, प्रत्युत वह एक विप्लव के रूप में भी फूट निकली। उसने सनेही को भी सनेही नहीं रहने दिया, उन्हें त्रिशूल के रूप में परिवर्तित कर दिया। त्रिशूल का काव्य एक ज्वालामुखी का अग्नि-प्रपात है जो अपने सामने दासत्व का स्वर्ण महल भी भस्मसात कर देना चाहता है। त्रिशूल ने इस महान् विप्लव-गान में एक शक्ति भर दी है और इस शक्ति में हिन्दी और फ़ारसी-अरबी के शब्द समान रूप से काम कर रहे हैं।

'सनेही' और 'त्रिशूल' श्री गयाप्रसाद शुक्ल के दो भिन्न व्यक्तित्व हैं। 'सनेही' के रूप में वे प्रेम और करुणा की रचनाएँ प्रस्तुत करते हैं और 'त्रिशूल' के रूप में देश-भक्ति के प्रज्वलित भाव। दोनों ही क्षेत्रों में श्री गयाप्रसाद शुक्ल सफल हैं। बात केवल इतनी ही है कि वे अपने दोनों क्षेत्रों में इति वृत्तात्मक हैं। वे घटनाओं के वर्णन द्वारा एक वीर सेनानी की भाँति निर्बलों में उत्साह भरते हैं। वे कभी छप्पय में, कभी सवैया में, कभी घनाक्षरी में और कभी किसी उर्दू बहर में अपना रण-गान छेड़ देते है।

श्री गयाप्रसाद शुक्ल देश के पुनर्जागरण में एक सफल चारण हैं।

———

दृढ़ बनो

नहीं पद दलित होने, दबने, दाँत दिखाने आये हैं ;
कठिन काम करने आये हैं, भार उठाने आये हैं ;
जी न चुराओ जीवन-रण से समर-सूरवत् डटे रहो ;
ईश्वरीय-आदेश यही है—निर्बलता से हटे रहो ;
धीर बनो, वर वीर बनो
गम्भीर बनो, दृढ़ हृदय बनो ।

बुरा न कहो समय को, रखकर हाथ, हाथ पर मौन न हो ;
लज्जा की यह बात और फिर किसका है यह दोष कहो ?
अतः नाम ईश्वर का लेकर, उठो, खड़े झट हो जाओ ;
अपने सब सुविचार साफ अब साहसयुत हो प्रकटाओ ।
धीर बनो वर वीर बनो,
गम्भीर बनो, दृढ़ हृदय बनो ।

यद्यपि भारी भारी भूलें हुईं, किन्तु परवा न करो,
बड़ा विकट है रण यह, देखें कबतक तुम इससे उबरो ।
मत हताश हो, डटो मुकाबिल, देना मत मुँह फेर कहीं ?
विजय तुम्हारे हाथ भाइयो ! सफल हुए अब देर नहीं ;
धीर बनो, वर वीर बनो,
गम्भीर बनो, दृढ़ हृदय बनो ।

काली रात

घनघोर हैं घटाएँ, तम तोम छा रहा है,
हर एक तरु, निशाचर सा दृष्टि आ रहा है ;
काली विभावरी ने अन्धेर है मचाया,
जी में उलूक तक के भय भूरि है समाया ;
चिंघाड़ते द्विरद हैं, चीते दहाड़ते हैं,
तरु धैर्य का हृदय के वन से उखाड़ते हैं ;
भूला हुआ सुपथ हूँ, भटका हुआ गहन में,
किस पन्थ का पथिक हूँ, यह भी रहा न मन में;
वन-जन्तु हैं भयंकर ऊधम न यह मचायें,
मैं एक, और सन्मुख शतकोटि आपदायें ;
बिजली चमक रही है, यद्यिप प्रकाश-कर है,
पर कालरूपिणी है, इससे अतीव डर है ,
फिर भी हृदय बली है, आशा न छोड़ता है,
खाता हज़ार ठोकर, पर मुँह न मोड़ता है ।
सारे झमेले झंझट वह यों निवेड़ता है,
रह-रह घड़ी-घड़ी पर यह तान छेड़ता है—
"धीरज न छोड़ देना कुसमय न यह रहेगा,
होगा प्रकाश घर-घर तू, फिर सुपथ लहेगा ।"

———

साहसी पथिक

चक्रव्यूह सा रच कर पथ में काँटे जाल बिछाये हैं,
टपकाते हैं राल, भेड़िये खाने को मुँह बाये हैं;
घोर नाद करते हैं नाले, नद विस्तार बढ़ाये हैं;
गिरिवर खड़े अकड़ते से हैं, भौहें विकट चढ़ाये हैं,

पर साहसी पथिक निर्भय हो,
अपने पथ पर जाता है।

आँधी आती कभी-कभी तूफ़ान भयानक आते हैं,
जिससे विचलित होते प्राणी तन थर-थर थर्राते हैं;
घिर-घिर कर घन गरज विज्जु-असि पल-पल पर चमकाते हैं;
आँखों के सम्मुख आ आ कर प्रलयकाल मचाजाते हैं;

पर साहसी पथिक निज मन में,
ज़रा नहीं घबड़ाता है।

कालनेमि से वंचक मग में आते हैं बहकाने को,
आते विषय विचार प्रेत बन-बन के हैं डरवाने को,
वानर विकट बराह तेंदुए तकते हैं धर खाने को,
बढ़ा रही हैं हाथ झाड़ियाँ झंझट में उलझाने को;

पर साहसी पथिक ये बातें,
कब निज मन में लाता है?

थकते हैं पद अगर, उन्हें भी निज मन से बल देता है,
बस अपने ही भुज विक्रम से अपनी नौका खेता है;
पीछे हटने का न नाम वह कभी भूल से लेता है,
परम साहसी वीर कर्मवीरों का भी वह नेता है;

जाता पहुँच मुदित मंजिल पर,
सुयश-स्वर्ग सुख पाता है।

भयंकर युद्ध

समरानल धर प्रलय रूप सा धधक रही है,
रण में जाते हुए कालिका झिझक रही है;
भूत प्रेत भयभीत, योगिनी सटक गई है;
हर-माला बढ़ अतल वितल तक लटक गई है।

घन-गर्जन कर, धायँ-धाँय गोले चलते हैं;
धुआँधार है, ग्राम नगर जंगल जलते हैं।
होता उल्कापात कि भीषण बम गिरते हैं?
डर के मारे, भगे चील कौवे फिरते हैं,

नजर आ रही नहीं अन्य चिड़िया भी कोई;
विषमय गैसें सूँघ प्रकृति मानो है सोयी;
काल-रात्रि का दृश्य नजर आता है दिन में,
ऐसा भयप्रद घोर तिमिर छाता है दिन में!

सैनिक सहमें नहीं तनिक भी विपद कड़ी में;
पल-पल पर है काल, मृत्यु है घड़ी-घड़ी में;
सम्मुख बढ़ते हुए शत्रु जब आ जाते हैं,
बढ़ कर यह भी परम पराक्रम दिखलाते हैं;

सन-सन करती हुई गोलियाँ 'गन' से आतीं,
मानो कहती हुई 'विजन हैं जन से आतीं;'
हाथ किसी का उड़ा, किसी का सर जाता है,
शोणित से मैदान लबालब भर जाता है;

हुई अगर मुठभेड़, चली संगीन खचाखच,
हुई मेद से पूर्ण मेदनी, नाम हुआ सच!
दस्ती-बम ने कहीं किसी को झुलस दिया है;
'कुकड़ी' ही ने कहीं ग़ज़ब का काट किया है!

कोई चित है पड़ा, कहीं कोई है औंधा,
चौंधाती है आँख देखकर असि का कौंधा;
घमासान रण मचा वीर, ऐसे अड़ते हैं,
आगे पड़ते याकि स्वर्ग में पद पड़ते हैं?

धन्य-धन्य वे वीर मातृ-भू के हित मरते,
निज-बल-भर भरपूर शूर की करणी करते;
अमर पुरी में अमर बने बस वहीं विचरते;
कायर सुन कर नाम मात्र ही मन में डरते।

विषम समर का ध्यान भूत सा उनपर चढ़ता,
भाँति-भाँति की नयी नयी ख़बरें है गढ़ता;
पर पौरुष कुछ नहीं, धुकधुकी धक-धक होती;
इन से करना वाद मुफ़्त की झक-झक होती।

———

कविराज से सम्बोधन

सत्कीर्ति-प्राप्त, काव्य-कलाधर, कवीन्द्रवर !
माधुर्य्य-मेघ, ओज अचल, भाव-मानसर !
प्रतिभा-पयोधि, ज्ञान-गगन, शक्ति-शक्तिधर !
सोते सुरस के, प्रेमलता के रसिक भ्रमर !

आये बहुत दिनों में महाराज ! आइये;
साहित्य-रत्न ! आइये, कविराज ! आइये।

महिमा महान आप के गुण-गण अनन्त की,
वर्णन करे जो शक्ति है किस बुद्धिवन्त की ?
चलती है चाल आप से, खल की, न सन्त की,
पर है ख़बर न आपको कुछ भी बसन्त की !

देखा न आप ने कि ज़माना कहाँ है अब ?
रस-राज का जगत में ठिकाना कहाँ है अब ?

कविता-सुरा से देश को करते हैं आप मस्त,
रहते हैं लोग आठ पहर रस-कथा में व्यस्त;
शूरत्वहीन होके, हुए देशबन्धु पस्त;
गुण-मानवी समस्त हुए हाय! हाय! अस्त।

ले डाला हाय! आप के इस प्रेम-प्यार ने,
नौका डुबोई हाय! स्वयम् कर्णधार ने!

भूषण न आप बन सके, मतिराम ही बने,
कामारि आप बन न सके, काम ही बने;
सब और काम भूल के रस-धाम ही बने,
क्यों राम आप बन न गये, श्याम ही बने?

करुणानिधान देश पर अब तो दया करो,
निज पूर्वजों के नाम की कुछ तो हया करो।

माँ भारती तुम्हारा चलन देख देख कर,
नव नायिका से नित्य लगन देख देख कर,
परकीया में लगा हुआ मन देख देख कर,
उजड़ा हुआ स्वदेश का वन देख देख कर,

आकुल अजस्र धार से आँसू बहा रही;
हो कर अधीर धैर्य-भवन है ढहा रही!

करुणा-जनक स्वदेश-दशा आप देखते,
बाक़ी रही है लोक में क्या थाप, देखते।

चेहरे पै हीनता की लगी छाप देखते,
दारिद्र, दुःख देखते, सन्ताप देखते;

कुछ देशवासियों का अगर दर्द देख कर,
कहते दवा, तो करते उसे मर्द देख कर।

यह क्या कि मानिनी के मनाने में मस्त हैं ?
यह क्या ? कि दौत्य-दाँव दिखाने में मस्त हैं ?
यह क्या ? कि दिल में आग लगाने में मस्त हैं ?
यह क्या कि कुल का नाम मिटाने में मस्त हैं ?

जब से कि आप इस तरह बदमस्त हो गये,
दिल प्रेमियों के आप के, हैं पस्त हो गये।

लोगों के दिल को लग गया चस्का विलास का,
फिर काम ह्रास करने लगा चन्द्रहास का;
बुझना मुहाल हो गया दर्शन की प्यास का,
मुँह ह्रास की तरफ़ फिरा बल के विकास का;

हा कर्मवीरता का यहाँ ढब न रह गया,
रस भर गया नसों में, रुधिर अब न रह गया।

बन-बन के खड्ग आपकी यह लेखनी चली,
ख़ंजर, कटार, तेग़ दोधारी बनी, चली;
टाले टली न कुन्त की ऐसी अनी चली,
विष की बुझाई हाय ! महाविष सनी चली।

दिल को, जिगर को छेद दिया एक वार में,
आचार चारु मारा गया मारामार में।

कविराज मेरी धृष्टता उर में न लाइये,
यों खीझिये न मुझ पै, वृथा ग़म न खाइये;
फिर देश को सँजीवनी बूटी खिलाइये,
वर्षा अमृत की करके इसे फिर जिलाइये।

रग-रग में इस की वीर-रुधिर का प्रवाह हो,
फिर देखिये कि आप की क्या वाह वाह हो!

साहस का, एकता का, सबक़ दीजिये हमें,
उत्साहयुक्त और बली कीजिये हमें;
नीचे गिरें न, थाम ज़रा लीजिये हमें,
रस कोई और देने को तजवीज़िये हमें;

अब माँगता क्षमा हूँ, दयासिन्धु! दीज़िये,
मेरा प्रणाम साथ ही कविराज़! लीजिये।

[त्रिशूल तरंग से]

श्री गयाप्रसाद शुक्ल के ग्रन्थ

काव्य—प्रेम पच्चीसी, कुसुमांजलि, कृषक क्रन्दन, त्रिशूल तरंग, कलामे त्रिशूल, राष्ट्रीय मन्त्र

परिचय

१—श्री मैथिली शरण गुप्त (जन्म सं० १६४३)

चिरगाँव, झाँसी।

२—श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय (जन्म सं० १६२२)

हिन्दू विश्वविद्यालय, बनारस।

३—श्री रामनरेश त्रिपाठी (जन्म सं० १६४६)

हिन्दी मन्दिर, इलाहाबाद।

४—श्री गोपालशरण सिंह (जन्म सं० १६४८)

नयी गढ़ी, रीवाँ।

५—श्री जयशंकर प्रसाद (जन्म सं०–१६४६ मृत्यु सं० १६६४)

६—श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' (जन्म सं० १६५५)

लीडर प्रेस, इलाहाबाद।

७—श्री सुमित्रानन्दन पन्त (जन्म सं० १६५७)

प्रकाश गृह, कालाकाँकर।

८—श्रीमती महादेवी वर्मा (जन्म सं० १६६४)

प्रयाग महिला विद्यापीठ, इलाहाबाद।

९—श्री रामकुमार वर्मा (जन्म सं० १६६२)

इलाहाबाद यूनीवर्सिटी, इलाहाबाद।

१०—श्री भगवती चरण वर्मा (जन्म सं० १९६०)

विशाल भारत कार्यालय, कलकत्ता।

११—श्री माखनलाल चतुर्वेदी (जन्म सं० १९४५)

कर्मवीर प्रेस, खंडवा।

१२—श्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' (जन्म सं० १९५४)

प्रताप प्रेस, कानपुर।

१३—श्रीमती सुभद्रा कुमारी चौहान (जन्म सं० १९६१)

राइट टाउन, जबलपुर।

१४—श्री गयाप्रसाद शुक्ल, 'सनेही' त्रिशूल (जन्म सं० १९४०)

सुकवि प्रेस, कानपुर।

इस संग्रह में निम्न-लिखित काव्य-ग्रन्थों से अवतरण लिये गये हैं

अभिशाप	श्री रामकुमार वर्मा
आँसू	श्री जयशंकर प्रसाद
कल्पलता	श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय
कादम्बिनी	श्री गोपालशरण सिंह
कानन कुसुम	श्री जयशंकर प्रसाद
कामायनी	"
गीतिका	श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'
गुंजन	श्री सुमित्रानन्दन पन्त
चन्द्रकिरण	श्री रामकुमार वर्मा
चित्ररेखा	"
चुभते चौपदे	श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय
चोखे चौपदे	"
ज्योत्स्ना	श्री सुमित्रानन्दन पन्त
झरना	श्री जयशंकर प्रसाद
झंकार	श्री मैथिली शरण गुप्त
त्रिधारा	श्री माखनलाल चतुर्वेदी
	श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान
	श्री केशव प्रसाद पाठक
त्रिशूल तरंग	श्री गया प्रसाद शुक्ल
द्वापर	श्री मैथिली शरण गुप्त

नीरजा	श्रीमती महादेवी वर्मा
नीहार	"
पथिक	श्री रामनरेश त्रिपाठी
परिमल	श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'
पल्लव	श्री सुमित्रानन्दन पन्त
प्रियप्रवास	श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय
प्रेम संगीत	श्री भगवती चरण वर्मा
बोलचाल	श्री अयोध्या सिंह उपाध्याय
मधुकण	श्री भगवती चरण वर्मा
माधवी	श्री गोपाल शरण सिंह
मानवी	"
मानसी	श्री रामनरेश त्रिपाठी
मुकुल	श्रीमती सुभद्रा कुमारी चौहान
यशोधरा	श्री मैथिलीशरण गुप्त
युगान्त	श्री सुमित्रानन्दन पन्त
रश्मि	श्रीमती महादेवी वर्मा
रूपराशि	श्री रामकुमार वर्मा
लहर	श्री जयशंकर प्रसाद
साकेत	श्री मैथिली शरण गुप्त
सान्ध्यगीत	श्रीमती महादेवी वर्मा
स्वप्न	श्री रामनरेश त्रिपाठी

———